वैदिकी

('ब्राह्मण, सावधान !' : शास्त्रीय दृष्टि में)

लेखक—

लालविहारी मिश्र

······जो आक्षेप सनातनधर्म के कतिपय
ों पर किये गये हैं, उनका इस छोटी
ण्डित्यपूर्ण एवं विनययुक्त उत्तर
। मुझे पूर्ण विश्वास है कि
र विद्वज्जनों को सन्तोष होगा ।

मदनमोहन मालवीय

वादका

('ब्राह्मण, सावधान !' : शास्त्रीय दृष्टि में)

लेखक—

लालविहारी मिश्र

प्रकाशक—

चन्द्रकिशोर पति त्रिपाठी

श्री उमापति पुस्तकालय

पिण्डी (गोरखपुर)

हरिप्रबोधनी
२००२ विक्रम

मूल्य २॥)

पुस्तक मिलने का स्थायी पता—
कविराज नन्दकिशोर मिश्र,
आयुर्वेदाचार्य G. A. M. S.
मु० मुस्तफापुर पो० खगोल (पटना)

मुद्रक—
कृ० ब० पावगी
हितचिन्तक प्रेस, रामघाट, काशी ।

वर्तमान पता—
गोयनका संस्कृत कालेज
ललिताघाट, काशी ।
या श्रीगोवर्द्धनदास
C/o क्राउन स्पेक्टिकल्स कम्पनी
मुरादपुर, पटना ।

काशी-श्रीजगद्गुरुविश्वाराध्यज्ञानसिंहासनाधीश्वर-
श्री १००८ जगद्गुरुवीरभद्रशिवाचार्य-
महास्वामिनां सन्निधानात्

शुभाशीर्वचनम्

"वैदिकी"-पुस्तके नूनं समालोचनपद्धतिः
शुद्धा समर्था चाक्षेप-समाधानविधायिनी ॥ १ ॥
सनातनरहस्यार्थ-सम्पूर्णानन्दबोधिनी
प्रमाणबहुला मान्या मंजुवाणी विराजते ॥ २ ॥
अल्पश्रुतविवेकार्थं पठनीयैव वैदिकी
ग्रन्थकर्ता चिरं जीव्याद् बिहारीमिश्रपण्डितः ॥ ३ ॥

इति शम्

२३-११-१९४५ ई०

अभिनव शङ्कराचार्य श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज का

आशीर्वचन

"वैदिकी" बड़े सुन्दर, सरल और आक्षेपरहित शब्दों में लिखी गयी है। इससे आधुनिक लोगों द्वारा उठायी गयी शंकाओं का समाधान तो होता ही है, साथ ही और भी बहुत से ज्ञातव्य आवश्यक विषयों का ज्ञान होता है।

इसे सुनकर बड़ी ही प्रसन्नता हुई।

भगवान् से यही प्रार्थना करता हूँ कि इसी तरह लेखक और प्रकाशकों को धर्म-सेवा के लिये उत्साहित करते रहें।

करपात्रोपाह्व
हरिहरानन्द सरस्वती

हिन्दी, हिन्दू, हिन्द के विश्ववन्द्य नेता महामना
पं० मदनमोहन मालवीयजी
का

आशीर्वाद

काशी विश्वविद्यालय
तिथि आश्विन शु० ७, २००२

पं० लालविहारी मिश्र द्वारा लिखित 'वैदिकी' नाम की पुस्तक के कई अंशों को मैंने सुना। जो आक्षेप सनातनधर्म के कतिपय सिद्धान्तों पर किये गये हैं, उनका इस छोटी पुस्तक में पाण्डित्यपूर्ण एवं विनययुक्त उत्तर दिया गया है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि इसको पढ़कर विद्वज्जनों को सन्तोष होगा।

मदनमोहन मालवीय

महामहोपाध्याय श्री पं० गोपीनाथजी कविराज एम. ए., भूतपूर्व प्रिंसिपल गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज बनारस

का

शुभाशीर्वाद

2A Sigra
BENARAS.
Dated 14-11-45.

श्रीमान् पण्डित लालविहारी मिश्रजी ने "वैदिकी" नाम की संक्षिप्त पुस्तक में जो विद्वत्ता, वैदिक तथा पौराणिक साहित्य में अनुसन्धान-कुशलता, विचार और विश्लेषणपटुता, लेखनैपुण्य प्रभृति गुणों का परिचय दिया है—वह अत्यन्त प्रशंसनीय है—उसके लिये हिन्दी पाठकवर्ग ऋणी रहेंगे।

यह पुस्तक श्रीयुत सम्पूर्णानन्दजी की लिखी हुई 'ब्राह्मण, सावधान !' नामक पुस्तक में उत्थापित प्रश्नों की आलोचना में शास्त्रीय दृष्टिकोण से लिखी गयी है। संयतभाषा में लिखित तथा तथ्यपूर्ण होने के कारण यह ग्रन्थ अत्यन्त चित्ताकर्षक हुआ है। देवतातत्त्व, वेद और पुराण के परस्पर सम्बन्ध, वैदिक साधना के लुप्तप्राय होने के कारणनिर्देश, जड़वाद की अपकारिता प्रभृति विषयों पर प्रमाणसहित मौलिक आलोचन इसमें है।

मैं आशा करता हूँ कि यह ग्रन्थ हिन्दूसमाज में समुचित आदर लाभ करेगा।

गोपीनाथ कविराज

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राच्यविद्याविभाग के प्रिंसिपल पण्डितप्रवर श्रीकालीप्रसाद जी मिश्र लिखते हैं—

हिन्दू विश्वविद्यालय काशी

दिनांक चैत्रशुक्ल शनिवार
२००२ विक्रम

वैदिकी के बहुत अंशों को मैंने पढ़ा। यह "ब्राह्मण, सावधान" के उत्तर रूप में लिखी गई है। इस पुस्तक में जिन प्रश्नों पर विचार किया गया है, वे नये नहीं हैं, बहुत पहले से ही आर्यसमाज प्रभृति ने उन्हें उठाकर पुराना बना दिया है, किन्तु उनमें कुछ ऐसी जटिलता है कि वे आज भी नये बने हुए थे। प्रश्नों की दुरूहता देख ऐसा लगता है कि समीक्षक इस बार चूका, किन्तु तब कम आश्चर्य नहीं होता जब देखता हूँ कि लेखक की मधुर एवं गम्भीर लेखनी लक्ष्य तक अबाधित गति से चलती ही चली गयी है। न कहीं उलझन है, न कहीं अड़चन और न कहीं खींच-तान की ही कोई शिकायत। प्रत्येक प्रसंग पर गहरी छान-बीन करके हृदयग्राही सुन्दर प्रकाश डाला गया है। मुझे इसके लिये परम प्रसन्नता है कि बहुत दिनों से सत्य पर पड़े हुए परदे को इस पुस्तक ने दूर हटा दिया।

यद्यपि यह पुस्तक धर्म के अत्यन्त गम्भीर विषयों पर लिखी गयी है; फिर भी इसकी भाषा इतनी सीधी-सादी एवं प्रवाहमयी है, शैली इतनी चुभनेवाली है कि बिना इसे समाप्त किये कल नहीं पड़ती। विचार पुष्ट एवं युक्तियां तर्कपूर्ण हैं। प्रत्येक प्रश्न पर तलस्पर्शी विवेचन हुआ है, वह विवेचन शास्त्रीय मर्यादा के घेरे में रहते हुए भी पूर्ण मौलिक है। संधाय-संभाषा का आश्रयण कर लेखक ने सोने में सुगन्धि डाल दी है; साथ ही आज की विपन्न दुनिया को एक ऐसी दिशा का संकेत किया है कि मरणासन्न मानवता को पुनः प्रश्रय मिल सके।

सारी पुस्तक पं० लालविहारी मिश्र के तलस्पर्शी परीक्षणशक्ति की सुन्दर परिचायक है। मैं इसका हृदय से प्रचार चाहता हूँ। आशा है कि श्री उमापति पुस्तकालय ऐसे ही प्रकाशन से समाज की सेवा करता रहेगा।

कालीप्रसाद मिश्र
चै० शु० शनिवार २००२

(७)

प्रकाशक का वक्तव्य

इस पुस्तक का प्रकाशन अड़चनों की एक कहानी है। परिस्थिति की पेचीदगी से बड़ी-बड़ी उलझनें आयीं। आर्थिक समस्या सबसे अधिक टेढ़ी थी। इस दिशा में यदि पं० श्री कल्पनाथ पाण्डेय, श्री हरिवंश चतुर्वेदी, श्री कृष्णदत्त पाण्डेय, श्री ललितादत्त पाण्डेय, श्री मुरलीधर पाण्डेय एवं विद्याधर त्रिपाठी जी का तत्परता से भरा सहयोग न मिलता तो हो सकता है कि यह पुस्तक आज आपके हाथों में न होती। इन्होंने ग्राहकता का रास्ता सुझाया, और इस ओर स्वयं बढ़ते गये। प्रकाशन की अन्य बाधाएँ श्री पं० श्रीकृष्णपन्त जी साहित्याचार्य, श्री पं० हीरावल्लभ शास्त्री, सा० व्या० सांख्याचार्य, प्रो० हिन्दू विश्वविद्यालय काशी, एवं श्री पं० काशीनाथ जी पाण्डेय, अध्यापक गोयनका संस्कृत कालेज ललिता घाट काशी के बौद्धिक सहयोग से शीघ्र ही दूर हो गयीं। इसी बीच में श्री कृष्णमोहन जी ठाकुर सा० व्याकरणाचार्य एवं यागेश्वरझा जी ज्योतिषाचार्य का अदम्य उत्साह के साथ सहयोग प्राप्त हुआ, जिसने बची-खुची परेशानियों को दूर हटा दिया।

इस दिशा में विश्वविश्रुत चिकित्सक पं० श्री सत्यनारायण शास्त्रीजी कविराज, भूतपूर्व प्रिंसिपल आयुर्वेद विभाग हि० वि० वि० काशी, श्री पं० सभापति उपाध्याय, प्रिंसिपल बिरला संस्कृत कालेज काशी ने अपनी उदारता के बीच जो कुछ सहायता एवं समय, शक्ति का व्यय किया है, वह सर्वथा अविस्मरणीय है।

श्री १००८ स्वामी करपात्री जी महाराज ने बड़े मनोयोग से इसे सुना। सम्मति के साथ आपकी प्रसन्नता इस दिशा में काफी उत्साहवर्धक रही। प्राच्य संस्कृति के अनन्य सेनानी श्री महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय जी अपनी कमजोरी की उस अवस्था में भी तीन-तीन घण्टे इसे सुनते रहे।

'वैदिकी' के 'कभी झूठ भी सच हो जाता है' इस प्रसङ्ग के सुनने पर आपने बड़े उत्साह से कहा—'कभी मेरे पिताजी ट्रेन से यात्रा कर रहे थे। किसी स्टेशन पर कुछ नशाखोर गोरे एक स्त्री का पीछा करने लगे। स्त्री किसी तरह उनकी आँखें बचा पिता जी के पास भाग आयी और अपनी रक्षा की याचना की। पिताजी ने उसे छिपा दिया। जब गोरे आये उन्होंने इशारा किया—"अभी-अभी उस ओर वह भागती गयी है।" वे उधर बढ़े, ट्रेन खुल गयी; और पिता जी के इस असत्य ने एक के सतीत्व की रक्षा की। अवश्य इस असत्य पर सैकड़ों सत्य निछावर हो सकते हैं।"

इस वृत्तान्त को कहते-कहते उनके नेत्र सतेज हो उठे थे। 'वैदिकी' के सभी प्रसङ्गों पर वे काफी प्रसन्नता प्रकट करते रहे और बार-बार आशीर्वाद दिये। योगिराज श्री गोपीनाथ कविराज जी ने भी इसे पढ़कर अत्यधिक प्रसन्नता प्रकट की और आगे के पथ पर काफी प्रकाश बिखेरा। श्री पं० नित्यानन्दजी पाण्डेय भूतपूर्व जज, श्री पं० गंगाप्रसादजी मेहता एम० ए०, रजिष्ट्रार हिन्दू विश्वविद्यालय काशी एवं श्री ज्योतिर्भूषण गुप्तजी का आभार भी हम कभी नहीं भुला सकते।

मैं इनका शाश्वत आभार हृदय से स्वीकार करता हूँ। और अपने उन कृपालु पाठकों से क्षमा चाहता हूँ जिन्होंने बड़ी धीरता के साथ इसके प्रकाशन की प्रतीक्षा की है।

चन्द्रकिशोरपति त्रिपाठी
श्री उमापति पुस्तकालय
पिण्डी, गोरखपुर।

दो बातें

बात पुरानी है, लगभग डेढ़ वर्ष की। एक दिन एक मित्र ने मुझे 'आज' के दो अङ्क दिये जिनमें 'ब्राह्मण, सावधान !' का पहला लेखांश पूर्ण हुआ था। इसके पहले भी मैंने 'ब्राह्मण, सावधान' के सम्बन्ध में सुना था और उसके पढ़ने के लिये कम उत्सुक न था, इसलिये अधिक कि भूतपूर्व शिक्षा-सचिव श्रीयुत सम्पूर्णानन्दजी ने अपने जेल के चिर-प्रवास में इसे लिखा था।

उन दोनों अङ्कों को कई बार पढ़ा। ब्राह्मण-समाज के लिए उसमें उद्‌बोधन एवं प्रगतिपरता की प्रचुर मात्रा में प्रेरणाएँ थीं। किन्तु उनमें जितने शास्त्रीय अंशों के छोड़ने का निर्देश था, मुझे लगा कि वह त्याज्य नहीं। अतः यह आवश्यक हो गया कि मैं भी अपने विचार रखूँ। बाद के अङ्कों की खोज की; पर यह आयासमात्र रहा। लाचार हो उक्त लेखमाला के प्रथमांश पर ही कुछ लिख सका। उसे 'आज' में प्रकाशनार्थ भेजा, किन्तु उसे उसमें स्थान न मिला। सम्पादक महोदय की चिट्ठी की प्रतिलिपि यह है—

प्रिय महोदय, २३-२-२००१

नमस्कार, आपका पत्र तथा लेख मिला। धन्यवाद ! खेद है कि हम आपके लेख का उपयोग न कर सकेंगे अतः वापस जा रहा है। इस विषय पर आज में कई लेख छप चुके हैं। अब अधिक छापना हमारे लिये संभव नहीं है। क्षमा करें।

भवदीय—
परमेश्वरीलाल
सहा० सम्पादक

किन्तु इस चिट्ठी के बाद भी 'आज' में इस सम्बन्ध के कई लेख प्रकाशित होते रहे। शायद वे लेख मेरे लेख से पहिले स्वीकृत हो गये हों। बाद मैंने उसे 'संसार' को दिया। सम्पादक महोदय ने यह कहकर लौटा दिया कि "मैं 'संसार' को इस विषय में तटस्थ रखना चाहता हूँ।" और 'संसार' सचमुच तटस्थ ही रहा।

मुझे लगा, जैसे मेरा कर्त्तव्य पूरा हो गया। मैं निश्चिन्त हो और कामों में उलझ गया। अङ्क न मिल सकने से अगले अंशों के पढ़ने की उत्सुकता भी धीरे-धीरे सोती गयी।

इसके बाद अगहन के प्रारम्भ में मैं काशी आया। अचानक मुझे 'ब्राह्मण, सावधान' का पुस्तक संस्करण प्राप्त हुआ। उत्सुकता उन्निद्र हो उठी थी; उसे कई बार दुहराया। मुझे फिर से आवश्यक जँचा कि इसके अवशिष्ट अंशों पर भी कुछ लिखा जाय। सोचा कि उसका प्रकाशन न हो तो न सही, पूरी कर मूल कापी ही श्रीसम्पूर्णानन्दजी तक पहुँचा दी जाय, ताकि विचार-विनिमय चल पड़े और बहुत दिनों से छिपी सचाई का साक्षात्कार हो। लगभग दो महीने में कापी तैयार हो गयी। मेरे कुछ साथियों ने उसे देखा, शायद पसन्द भी किया। किन्तु उनका विचार इसके पुस्तकरूप में प्रकाशन का था, अतः मेरे पहिले विचार को दब जाना पड़ा। और तब मुझे कम आश्चर्य न हुआ जब मैंने देखा कि छात्रों के एक या डेढ़ रुपये की मधुकरी से इसके प्रकाशन का लम्बा व्यय उन लोगों ने हल कर लिया है; इससे भी अधिक आश्चर्य उनके उस उत्साह पर हुआ जो कई महीनों तक एक सा बना रहा। मैं तो उनके स्नेह-भार से अपने को दबा पाता हूँ।

यह पहले से ही खयाल रखा गया है कि इस पुस्तक में आवश्यक सभी बातें आ जायँ, किन्तु जहाँ तक बन सके संक्षेप में। इसलिये उद्धृत अंशों का अर्थ न कर केवल भाव मात्र दिया गया है। कहीं-कहीं तो उन शास्त्रीय अंशों को भी छाँट देना पड़ा है, जो विषय की पूर्णता की

दृष्टि से तो आवश्यक थे किन्तु जिनके न रहने से आलोचना में कोई खास कमी न आती थी। जैसे—'शन्नो देवी' मन्त्र को जब स्मृति के बल पर शनिपरक ठहराया गया, तब उस अवसर पर यह भी प्रश्न उठाया जा सकता था कि जिस तरह यह मन्त्र स्मृति के बल से शनिपरक है उसी तरह 'आप्' इस लिङ्ग के बल से वरुणपरक भी; अतः अब यह निर्णय अपेक्षित होता है कि इस मन्त्र को शनिपरक माना जाय या वरुणपरक? इसके लिए मीमांसा के उस सूत्र का आश्रयण करना पड़ेगा, जिसमें बतलाया गया है कि लिङ्ग केवल श्रुति की अपेक्षा निर्बल पड़ता है और इसके अतिरिक्त और सभी प्रमाणों से सबल—**श्रुति-लिङ्ग वाक्य-प्रकरण-स्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्।**" 'शन्नो देवी' मन्त्र के शनिपरकत्व में कोई श्रुति तो है नहीं; रह गयी स्मृति की बात सो तो लिङ्ग के प्राबल्य से बाध ली जायगी, तब फिर 'शन्नो देवी' मत्र से शनि की पूजा कैसे? उत्तर में कहा जा सकता था कि उक्त सूत्र में उपात्त 'श्रुति' शब्द पारिभाषिक है, वेदपरक नहीं। निरपेक्ष रव को श्रुति कहते हैं—"**निरपेक्षरवः श्रुतिः**"। स्मृति भी निरपेक्ष रव है, अतः यह श्रुति ही हुई और तब इस श्रुति से लिङ्ग का बाध अबाधित ही है।

इसी तरह गणेशजी की वैदिकता के सम्बन्ध में भी कुछ और मन्त्र उपस्थित किये जा सकते थे। किन्तु उनके उपपादन में काफी विस्तार अपेक्षित था, अतः उन्हें छोड़ दिया गया। पुस्तक में चुन-चुनकर वही मन्त्र दिये गये हैं, जो काफी स्पष्ट हैं। हाँ, ऋग्वेद का एक मन्त्र ऐसा आ गया है, जो इन्द्रदेवताक है अतः जिसके स्पष्टीकरण की काफी अपेक्षा है; किन्तु उसे प्रसंगवश ही देना पड़ा है। वैदिकी का वह फर्मा, जिसमें कि गणेशजी की वैदिकता पर लिखा गया है, आज से छ महीना पहिले ही छप चुका था। बाद में मुझे श्री सम्पूर्णानन्दजी की इस सम्बन्ध की दूसरी पुस्तक 'गणेश' नाम की मिली जिस पर उन्हें १२००

का पुरस्कार भी मिल चुका है। अतः परिवर्द्धन न किया जा सका। और परिवर्द्धन की कोई खास जरूरत भी न थी, इसलिए कि 'ब्राह्मण, सावधान!' में गणेश सम्बन्धी जो बातें कही गयी हैं, वही बातें गणेश पुस्तक की आधारभित्ति हैं; उसी की नींव पर यह भव्य प्रासाद खड़ा किया गया है।

यह पुस्तक, जैसा कि इसके प्रारम्भ में लिखा जा चुका है, संधाय संभाषा में लिखी गयी है। इसलिये कि विचार-विनिमय के लिये यही एक ऐसी सुन्दर शैली है, जिसमें शील की पूर्णतया रक्षा होती है। इसमें न राग का स्थान है, न द्वेष का; न हार का न जीत का। न तो हार से भय की गुंजाइश है और न तो जीत से प्रसन्नता की। बस, सिद्धान्त की खोज ही केवल लक्ष्य होता है और पूरे अपनापन के साथ विचार का आदान-प्रदान हो सकता है। चरकसंहिता में इस पर काफी प्रकाश डाला गया है—

द्विविधा तु खलुतद्विद्यसंभाषा भवति—संधाय संभाषा विगृह्य सम्भाषा च।

तत्र ज्ञान-विज्ञान सम्पन्नेनाऽकोपेनानुपस्कृतविद्येनानसूयेनानुनयकोविदेन क्लेशक्षमेण प्रियसम्भाषणेन च सह संधाय संभाषा विधीयते। तद्विद्येन सह कथयन् विस्रब्धः कथयेत्, पृच्छेदपि च विस्रब्धः। पृच्छते चास्मै विस्रब्धाय विशदमर्थं ब्रूयात्, न च निग्रहभयादुद्विजेत, निगृह्य चैनं न हृष्येत् न च परेषु विकत्थेत, न च मोहादेकान्तग्राही स्यात्, न चानुदितमर्थमनुवर्णयेत्। सम्यक् चानुनयेनानुनयेच्च, अनुनय च तत्र चाहवहितः स्यादित्यनुलोमसंभाषा (संधायसंभाषा) विधिः।" **(चरक, विमानस्थान, अ० ८)**

जब हम पराधीन हैं, हमारा देश पराधीन है और जब हमारी संस्कृति, सभ्यता दोनों पराधीन बनायी जा रही हैं, तब यह बहुत आवश्यक

है कि विग्रह्यसंभाषा पर बिलकुल रोक लगा कर केवल संधाय संभाषा का ही आश्रयण किया जाय। तभी हमारा विचार, हमारी समिति और हमारा मन समान हो सकता है जिसका कि वेद में निर्देश है—

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।

और निदेश भी—

सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया (अथर्व० ३, ३०, ३)

लालबिहारी मिश्र
गोयनका संस्कृतमहाविद्यालय
ललिताघाट, काशी

विजयादशमी
२००२ विक्रम

निर्देशिका

वैदिकी

("ब्राह्मण, सावधान:" शास्त्रीय दृष्टि में)

श्रीगणेशाय नमः, श्रीपितृभ्यां नमः, श्रीगुरवे नमः

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युः तं नमामि गजाननम् ॥

श्रीयुत सम्पूर्णानन्द जी ने ब्राह्मणों के हित की दृष्टि से अपनी लेख-माला का प्रारम्भ किया है। मैं उनके इस सदाशय का हृदय से स्वागत करता हूँ।

यह सच है कि हममें कमजोरियाँ आ गयी हैं; हम ठीक ठीक सावधान नहीं, अभी हमें सावधान होना है। आज विनाश की सेना ने समग्र विश्व को घेर रखा है, हमारा कर्तव्य है कि हम उसे शाश्वत-अभय की देन दें, पर हममें हमारे पूर्वजों की वह ताकत नहीं! इसके लिये हमें अँगड़ाइयों की बिदाई कर अपने में पूरी ज़िन्दादिली पैदा करनी है, हममें औद्योगिक क्रान्ति अपेक्षित है और सबसे बड़ी अपेक्षा है अपने में त्याग और तपस्या को मूर्त कर देने की। दुनिया के धूमिल क्षितिज पर अभी प्रकाशवान बनकर आना है; बड़ी आवश्यकता है कि हम अपनी जिम्मेवारियाँ अवश्य समझें।

सम्पूर्णानन्द जी हमें उदयाचल के उसी उत्तुङ्ग-शिखर पर प्रतिष्ठित देखना चाहते हैं, इसके लिये उन्हें बड़ी व्यग्रता है जो "ब्राह्मण, सावधान!" की पङ्क्तियों में शत-शत फूट पड़ी है, जिसका कि हम पर चिर-आभार है।

परन्तु इस सिलसिले में हमारी उन्नति के लिये उनने जितने पथों का निर्देश किया है, उनसे मैं सर्वथा सहमत नहीं। उनके मूल में सदाशयता का हाथ तो है, पर मेरी दृष्टि में उन्हें प्रमात्व प्राप्त नहीं। अतः कर्तव्य हो जाता है कि सचाई को प्रगट कर दिया जाय। मैं जो कुछ भी लिखने जा रहा हूँ, उसके मूल में बस यही एक हेतु सन्निहित है। अतएव इस लेख में सन्धाय सम्भाषा का ही आश्रयण किया गया है, विगृह्य संभाषा का नहीं।

वेदों के विनाश में गोप्यता की प्रवृत्ति का हाथ नहीं के बराबर है।

आये दिन गोप्यता हिन्दू समाज का कलङ्क समझी जाती है। बहुतों के मत से गोप्यता केवल हानि की जननी है; इसमें कोई हित निहित है इसकी कल्पना भी उनके मन में नहीं उठती। मुझे दिली खुशी होती है, जब मैं देखता हूँ कि सम्पूर्णानन्द जी ने लेख के प्रारम्भ में ही इसका समाधान किया है। आपने निरुक्त का हवाला देकर यह प्रमाणित किया है कि गोप्यता एक शास्त्रीय देन है और युक्ति भी इसका साथ देती है।

बाद, आपने गोप्यता की घातक प्रवृत्ति की ओर इशारा किया है और उसके दुःखद उदाहरण में वेद को उपस्थित किया है। आपकी रांय में ब्राह्मणों के छिपा रखने की भावना से ही वेदों का ह्रास हुआ है। पर मेरी समझ से वेदों के विनाश में गोप्यता की प्रवृत्ति का हाथ नहीं के बराबर है।

कुछ उपपत्तियाँ

क्योंकि शास्त्रों ने विद्या-दान को 'अतिदान' की कोटि में रखकर इसके प्रसार में एक बहुत बड़ा सत्य-प्रलोभन दे रखा है और स्पष्टतः यह भी बतला दिया है कि यदि अधिकारी को विद्या न दी गयी तो घोर दुर्गति होती है। अनन्त व्रत कथा में एक कथा आयी है—एक विद्वान्

ने अपनी विद्या योग्य शिष्य को नहीं दी। परिणामतः उन्हें वह वृक्ष होना पड़ा, जो पुष्पित-फलित तो था पर जिसे कीटों ने आवृत कर रखा था और जिससे पक्षियाँ दूर दूर रहती थीं।

सत्यनारायण व्रत कथा में तो स्पष्ट शब्दों में लिख दिया है कि जो ज्ञान प्राप्त कर दूसरे को नहीं देते, उन पर परमात्मा की प्रसन्नता ही नहीं होती—

"ज्ञानं संप्राप्य संसारे यः परेभ्यो न यच्छति।
ज्ञानरूपी हरिस्तस्मै प्रसन्न इव नेक्षते॥"

इस तरह अनन्तव्रत (!) एवं सत्यनारायणव्रत कथा (!) की दया से विद्या के न देने के कटु परिणामों से जब साधारण जनता भी चिरपरिचित है, तब अधिकारी विद्वानों में इस कुप्रवृत्ति का होना सम्भव नहीं। आज भी संस्कृत के विद्वान् एवं छात्र विद्या के देने और न देने के परिणामों से पूर्णतया परिचित हैं। प्रत्येक व्युत्पन्न छात्र अपने से निम्न श्रेणी वाले भाइयों को सहारा देता हुआ बढ़ता है। आज भी बहुत से पण्डित, जिनके पास विद्यार्थियों का ताता नहीं टूटता, हमने देखा है, पढ़ाने में इतने व्यस्त रहते हैं कि दुनिया ही उनसे दूर जा पड़ती है। कोई योग्य छात्र पढ़ना चाहें और वे न पढ़ायें, यह तो आज भी नहीं देखा जाता।

वेदों के ह्रास के कारण

वेदों के ह्रास का मुख्य कारण काल है। सत्ययुग में पिण्डीभूत एक ही वेद का सर्वाङ्गीण अध्ययन प्रचलित रहता है। त्रेता से उसका क्रमिक ह्रास प्रारम्भ होता है। द्वापर का अन्त आते आते वह बिल्कुल विशीर्ण हो जाता है और तब इसकी रक्षा के लिये भगवान की ज्ञानशक्ति के अवतार व्यास जी को आना पड़ता है। वे वेदों को चार भाग कर अनेक शाखाओं में विभक्त कर देते हैं। स्कन्दपुराण में लिखा है—

"नारायणाद्विनिष्पन्नं ज्ञानं कृतयुगे स्थितम् ।
किञ्चित्तदन्यथा जातं त्रेतायां द्वापरे'''॥
अवतीर्णोमहायोगी सत्यवत्यां पराशरात् ।
उत्सन्नान् भगवान् वेदानुज्जहार हरिः स्वयम् ॥"

इस तरह कलियुग की आरम्भ-वेला में व्यास जी के द्वारा वेदों की सुस्थिति हो जाती है। पर कालक्रम से फिर ह्रास का अध्याय प्रारम्भ हो जाता है। अनध्याय में पढ़ने के नाते इन्द्र ने अनेक सामशाखाध्यायियों को वज्र से मार डाला। उन्हींके साथ साथ सहस्र सामशाखाओं में से बहुत सी शाखायें दुनियाँ से उठ गयीं। चरणव्यूह परिशिष्ट में लिखा है—

"सामवेदस्य किल सहस्रभेदा भवन्त्येतेष्वनध्यायेष्वधीयानास्ते शतक्रतुना वज्रेणाभिहताः।"

इसी तरह निमित्त कोटि में बौद्धों का प्राबल्य, विदेशी आक्रामकों की अमानुषिक नृशंसता, यवनों द्वारा ग्रन्थों का जलाया जाना आदि को रख सकते हैं।

काल मनुष्यों की प्रवृत्ति का जबरदस्त प्रयोजक है और इसी प्रवृत्ति पर किसी ज्ञान का उदय एवं अस्त प्रायः निर्भर रहता है। आज से दश वर्ष पहले कीर्तन का कोई ज़ोर न था, पर आज तो अधिकांश का झुकाव इस ओर है। किसी जमाने में गीता का ज्ञान पूर्ण विकाश पर था, पर द्वापर के अन्त में उसकी चर्चा भी मिट चुकी थी—

स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ।

वेदों के ह्रास का भी यही तत्त्व है। उदयनाचार्य्य ने लिखा है—

"जन्म-संस्कार-विद्यादेः शक्तेः स्वाध्यायकर्मणोः ।
ह्रासदर्शनतो ह्रासः सम्प्रदायस्य मीयताम् ॥"

अतः वेद का ह्रासक मुख्यतया काल ही है। यही कारण है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के सतर्क रहते हुए भी आज हमारी आँखों के

सामने वेद की कुछ ही शाखायें हैं। पर इससे यह कभी न समझना चाहिये कि मैं कोरे कालवाद को प्रश्रय दे रहा हूँ; वास्तविकता के निदर्शन से ही मेरा मतलब है।

गोप्यता के अभाव से उत्पन्न घातक प्रवृत्तियाँ

सच पूछिये तो गोप्यता का उचित आश्रयण न होने से ही आज घोर से घोर घातक प्रवृत्तियाँ उग आई हैं। छापाखाने के बाहुल्य से गोप्यता का कार्य्य ही उठ गया है। वेद और पुराण आज सबके दरवाजे तक पहुँच गये हैं। सभी अपनी सीमित अनधिकारिणी बुद्धि के बल पर ही इसका पार पा लेना चाहते हैं। उस गुरुपरम्परा की, जिसके लिये श्रुति ने **"आचार्य्याद्धैव विदिता विद्या साधिष्ठं प्रापत्"** लिखा है और निरुक्त ने उपक्रम एवं उपसंहार में **"पारोवर्य्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति"** लिखकर जिसकी चरम उत्कर्षता बतलायी है, आज कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती। इसी का कुफल है कि भक्ति और ज्ञान आज की दुनियाँ में अकर्मण्यता के उज्जीवक माने जाने लगे हैं और वेद गड़ेरियों के गीत बतलाये जाते हैं। 'हिन्दू-तत्त्व-शोधन-विद्या' ने तो यहाँ तक समझ लिया है कि 'पुनर्जन्म वैदिक सिद्धान्त नहीं' एवं 'उपनिषद् के सिद्धान्त वेद के प्रतिस्पर्धी हैं।' इसी का कुपरिणाम है कि भारत की आस्तिक जनता में भी पुराणों के सम्बन्ध में गलतफहमियाँ फैल गयी हैं। आज वे पुण्य के पुनीत प्रकाश से वञ्चित हैं! और तब उन्हें कितनी वेदना होगी, जब वे स्वर्ग के द्वार अपने लिये बन्द पावेंगे?

गोप्यता का वैज्ञानिक आधार

अनधिकारी के हाथ में विद्या का चला जाना चार के लिये घातक सिद्ध होता है—गुरु, शिष्य, विद्या, एवं साधारण सभी जनता। अनधिकारी की पहुँच तल तक तो होती नहीं उसका मस्तिष्क शङ्काओं के धुआं से भर जाता है। तुरन्त उसके सन्देह घोर अश्रद्धा, अविश्वास

और विद्रोह के रूप में बदल जाते हैं। उस विद्या से चिढ़, उसे गलत बतला, उसके विरुद्ध एक अल्हड़ आन्दोलन खड़ा कर देता है। उसके उठाये अपवाद से आम जनता को अन्धकार में पड़ जाना पड़ता है। लोगों की दृष्टि उस विद्या और उस उपदेष्टा के प्रति संशयात्मिका बन जाती है। शनैः शनैः रही-सही आस्था की जड़ भी जब कट जाती है तो लोग उस विद्वान् और उस विद्या को थोड़ी भी प्रतिष्ठा नहीं करते; बल्कि उनमें उनकी धज्जियाँ उड़ायी जाती हैं। इस तरह यह तो उपदेष्टा और विद्या का सर्वनाश हुआ।

भ्रम में पड़ी आम जनता का सर्वनाश भी सहज में आँका जा सकता है। जब साधारण-वर्ग की आस्था ही उस विद्वान् और उस विद्या पर नहीं, तब उनसे पाये जाने वाले पुण्यप्रकाश से उन्हें वञ्चित होना ही पड़ेगा। और तब विपथ में ध्वस्त हो जाना ही इनके लिए क्या जरूरी न होगा ?

अनधिकारी की दुर्गति का क्या कहना ?

वह विद्यावारिधि के मन्थन से केवल संशय का विष निकाल पाता है। उसमें उतनी भी ताकत नहीं होती कि थोड़ी देर उसको बरदास्त करते हुए वह गुरुरूप शङ्कर के पास पहुँचे और उन्हें उसका अर्पण कर अपना बचाव कर सके। उसकी बुद्धि उस उत्पीड़क नशे से झुलस जाती है। तब उसकी आँखों पर मोह का इतना गाढ़ा परदा पड़ जाता है कि सत्य का ग्रहण कर सकना कभी उसके लिए सम्भव नहीं होता। वह इस बात की भी परख नहीं कर सकता कि वह ध्वंस के पथ पर बढ़ रहा है या अभ्युदय के। उसकी वेगवती गति उसे उसके लक्ष्य के ठीक दूसरे छोर पर पटक देती है। इस हालत में गुरु का प्रतिस्पर्धी हो जाना तो स्वाभाविक ही है; कभी कभी तो वह उनका जानी दुश्मन बन बैठता है। मनु ने कहा है—

"तयोरन्यतरं मृत्युं विद्वेषं वाधिगच्छति"

यास्क ने भी कहा—

"तामिमामायुरिच्छता न वक्तव्यम्"

पाश्चात्य-विचारक वेट का अनुभव भी इस स्तर तक पहुँच सका है; उन्होंने लिखा है—

"It is a fatal law of the arcecane sancturies that the revelation of their secrets entails to those who are unable to preserve them."

उपनिषद् की एक कथा से इसका स्पष्टीकरण हो जाता है—एक बार दध्यङ् आथर्वण ऋषि ने वचनबद्ध होने के नाते इन्द्र को ब्रह्म-विद्या दी। इन्द्र इसके अधिकारी न थे, अतः उनने इस विद्या को देश और दुनिया के लिए घातक समझा। उन्हें ऋषि पर बड़ा क्रोध हो आया; मौत तक सोच चुके थे, पर ऋषि के शाप के भय से खैर इस पाप से वे बच गये। आखिर उनने ऋषि की वाणी पर, विद्या पर, रोक लगा दी। कहा, 'अब से कभी किसी को इस विद्या का उपदेश करोगे तो सर उतार लूँगा।' ऋषि ने बहुत दिनों तक उस विद्या का उपदेश बन्द रखा। इस हालत में, जब इन्द्र ने इस विद्या और इन ऋषि के खिलाफ आवाजें उठायीं, तब उन दिनों की साधारण जनता की धारणा अवश्य इन दोनों के विपरीत हो गयी होगी।

कुछ दिन बाद अश्विद्वय उस ब्रह्म-विद्या के अध्ययन के लिए शिष्य बनकर ऋषि के पास आये। इसके पहले भी एक बार ये लोग ऋषि के पास इस सम्बन्ध में आये थे, किन्तु ऋषि ने इन्हें अनधिकारी देख विद्या का उपदेश न कर अधिकारी बनने के पथ का निर्देश किया था। अश्विद्वय इस बार सचमुच अधिकारी बनकर आये थे, इन्हें विद्या देनी ही थी, पर दें तो कैसे, इन्द्र सर उतार सकते थे। ऋषि इसी उधेड़-बुन में पड़े थे कि अश्विद्वय ने यह रास्ता दिखलाया कि आप घोड़े के सर से उपदेश करें, इन्द्र के काट डालने पर आप का सर आपकी धड़ पर एवं

घोड़े का सर घोड़े की धड़ पर जोड़ देंगे। ऋषि ने उन्हें उपदेश दिया। पर अनधिकारी होने के नाते इन्द्र ने इनके सर काटने में जरा भी संकोच न किया। अतएव श्रुति का यह आदेश है—**'विद्यया सार्द्धं म्रियते न विद्यामुषरे वपेत्।'** मनु ने इसी के आधार पर कहा है—,

"विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना।
आपद्यपि च घोरायां न चैनामिरिणे वपेत्।"

यदि उपर्युक्त कथा की जानकारी रही, तभी मनु की इन पँक्तियों की गहराई में पैठा जा सकता है। फ्रान्सिस वर्नार्ड का विचार इस स्तर तक पहुँच सका था। उन्होंने लिखा है कि जो कुछ तुम्हारी निजी वस्तु है उसे छिपाकर रखो, नहीं तो बर्फ सी ठण्डी अँगुलियाँ तुम्हारे होठों को सर्वदा के लिए बन्द कर देंगी—"Hold fast is silence all that is your own; lest ioy fingers be laid upon your lips to seal them forever."

पाठ और अर्थ का अन्तर नहीं

वेद के हासोपन्यास के सिलसिले में आपने लिखा—"वेदार्थ और वेदपाठ में कितना अन्तर आ गया है इसके लिए यह एक उदाहरण पर्याप्त होना चाहिये कि आज घर-घर में नवग्रह की पूजा में शनि के लिए 'शन्नोदेवीरभीष्टये आपोभवन्तु पीतये शंयोरभिस्रवन्तु नः' मन्त्र पढ़ा जाता है। इसमें कहीं शनि का पता नहीं है। शन्नो का अर्थ है 'हमारा कल्याण' परन्तु शनि से कुछ कुछ स्वन मिलता है, इसलिए इसे शनि का मन्त्र मान लिया गया।"

'शन्नोदेवी' मन्त्र का शनिपरकत्व

शन्नो देवी मन्त्र का शनिपरक माना जाना आजकल की अन्धाधुन्धी से चली कोई धाँधली नहीं है। बहुत पहले से ही हमारे ऋषियों एवं सूत्रकारादिकों ने इसे शनिपूजन में विनियुक्त कर रखा है। महर्षि

याज्ञवल्क्य ने, जिनसे उपस्थापित शुक्लयजुर्वेद और शतपथ को सभी प्रमाण मानते हैं, स्पष्ट शब्दों में लिख दिया है कि शनि की पूजा 'शन्नोदेवी' मन्त्र से करें—

"शन्नोदेवीस्तथा" याज्ञ० स्मृ० १।३०१

परन्तु, आपने याज्ञवल्क्यस्मृति के प्रामाण्य पर संदेह प्रकट किया है। आपकी राय में स्मृति वाले याज्ञवल्क्य शतपथ वाले याज्ञवल्क्य से भिन्न हैं; अतः यह जरूरी नहीं है कि शतपथ एवं शुक्लयजुर्वेद की तरह याज्ञवल्क्यस्मृति का अक्षर-अक्षर प्रमाण माना जाय। आपके ही शब्दों में—"शतपथ ब्राह्मण और स्मृति वाले याज्ञवल्क्य उतने ही भिन्न व्यक्ति हैं जितने कि शारीरिक भाष्य के रचयिता और गोवर्धन पीठ के वर्तमान अध्यक्ष, यद्यपि यह दोनों याज्ञवल्क्य कहलाते थे, यह शङ्कराचार्य कहलाते हैं।"

यह ठीक है कि आद्यशङ्कराचार्य और आज के गोवर्धनपीठाधीश्वर में बड़ा अन्तर है, पर यही बात याज्ञवल्क्य के लिये भी लागू नहीं। क्योंकि शतपथ के याज्ञवल्क्य और स्मृति के याज्ञवल्क्य यह दो व्यक्ति नहीं, एक ही हैं।

शतपथ-ब्राह्मण में आये याज्ञवल्क्य के लम्बे आख्यान से यह पता चलता है कि इन्होंने जनक की राजधानी मिथिला को अलंकृत किया था[१] और याज्ञवल्क्यस्मृति के प्रारम्भिक श्लोक से पता चलता है कि याज्ञवल्क्य ने मिथिला में ही ऋषियों से इस स्मृति को कहा था—

"मिथिलास्थः स योगीन्द्रः क्षणं ध्यात्वाब्रवीन्मुनीन्"

(याज्ञ० स्मृ० १, १, २)

इससे शतपथद्रष्टा एवं स्मृतिकार की एकता स्पष्ट प्रतीत होती है। इस सम्बन्ध में सबसे बड़ा प्रमाण तो स्वयं स्मृतिकार के शब्द ही

१—देखिये बृहदारण्यक ४४ अ० १–३ ब्राह्मण।

हैं। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिख दिया है कि सन्यासियों को मेरा वह बृहदारण्यक देखना चाहिये, जिसे मैंने सूर्य से प्राप्त किया था—

"ज्ञेयं चारण्यकमहं यदादित्यादवाप्तवान्"

(याज्ञ० स्मृ० ३, ४, ११०)

बृहदारण्यक शतपथ का ही एक अंश है। अतः यह प्रमाणित हो जाता है कि जिन याज्ञवल्क्य ने शतपथ का दर्शन किया है, उन्हींने इस स्मृति की भी रचना की है। अतः इस सम्बन्ध में आगे आपने जो यह लिखा कि "बहुत से भृगु, अङ्गिरा, वशिष्ठ हो गये हैं। ऐसा नहीं माना जा सकता कि जिस ऋषि द्वारा सत्ययुग में मन्त्रदर्शन हुआ, वेदमन्त्र अवतरित हुए, उसीने लौकिक संस्कृत में स्मृति की रचना की। सत्ययुग से स्मृति-निर्माण करने तक लाखों वर्ष होते हैं तब तो जीते रहे, फिर कुछ ऐसी महामारी आयी कि सब यकायक एक साथ मर गये!...यह ग्रन्थ हमारे लिए आदरणीय है परन्तु न इनको श्रुति का दर्जा प्राप्त है न इनके रचयिताओं को मन्त्रद्रष्टा ऋषियों का।" (पृ० ३९), उसका भी उत्तर दत्तप्राय है।

सच बात तो यह है कि जिन ऋषियों ने मन्त्र का दर्शन किया है, उन्होंने ही स्मृतियों और पुराणों का भी स्मरण किया है। हमारे यहाँ के विद्वानों की प्राचीन-परम्परा में किसी ने भी मन्त्रद्रष्टा और स्मृतिकर्त्ता को भिन्न नहीं माना है। हाँ, आज के कुछ पाश्चात्यों ने, अक्सर जिनकी खोज बहिरंग एवं एकदेशी होती है, अवश्य इस भिन्नता के प्रश्न को उठाया है। पहले तो मैं अपने महापण्डितों में से कुछ का मत उपस्थित करता हूँ, बाद नवागत आक्षेप पर भी एक दृष्टि डाल लूँगा।

ब्रह्मसूत्र के भाष्य में भगवान् शङ्कराचार्य ने अपने पक्ष के समर्थन में मनुस्मृति का एक श्लोक उद्धृत किया है और इसकी अबाधित प्रमाणिकता जतलाने के लिए उनने उस श्रुति का हवाला दिया है, जिसमें बतलाया गया है कि मनु ने जो कुछ भी कहा है, सभी औषध हैं—

"भवति चान्या मनोर्माहात्म्यं प्रख्यापयन्ती श्रुतिः—"
"यद्वै किञ्च मनुरवदत्तद्भेषजम्"
(तै० सं० २, २, १०, २) इति । मनुना च—

"सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥" (१२, ९१)
इति सर्वात्मत्वदर्शनं प्रसंशता··· (ब्र० सू० २, १, १)

इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिन मनुभगवान् ने सामिधेनी ऋचाओं का दर्शन किया है, उन्होंने ही मनुस्मृति का भी प्रणयन किया है ।

आद्यशङ्कराचार्य के उत्तरवर्ती विद्वानों में माधवाचार्य का प्रमुख स्थान है । वेदभाष्यकर्ता सायण पर इनकी अमिट छाप स्पष्ट पड़ी दीखती है । स्वयं सायण ने अपने भाष्य का नाम इन्हीं के नाम पर 'माधवीय' रखा हैं । कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि माधवाचार्य ने ही वेद भाष्य का भी निर्माण किया है, छोटे भाई के स्नेह में उन्होंने उसपर सायण का नाम रहने दिया है—"कथं तर्हि माधवाचार्यैर्वेदभाष्यादिषु सायणादेः स्वभ्रातुर्नामलिखितमिति चेत्कारुण्येन (विठ्ठलऋङ्मन्त्र भाष्य) ।" इसमें कहाँ तक तथ्य का हाथ है सो तो पता नहीं, पर यह तो स्पष्ट है कि सायण पर माधवाचार्य का उपकार भार है । माधवाचार्य ने पराशरस्मृति की व्याख्या के प्रारम्भ में स्मृतियों के प्रामाण्य-प्रतिपादन के अवसर पर बतलाया है कि मनु और पराशरादि आजन्मसिद्ध हैं । इनमें भ्रान्ति आदि की आशङ्का नहीं है, इसलिए इनकी स्मृतियों पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं । बल्कि श्रुतियों में भी इन स्मृतिकर्ताओं की महिमा उपलब्ध है—

"आजन्मसिद्धेषु मनुपराशरादिषु अनृतवदनभ्रान्त्योरत्यन्तानाशङ्कितत्वेन हेतोः स्वरूपासिद्धेः । न च आजन्मसिद्धावेव

विवदितव्यम्; पराशरादिसद्भावबोधकानामेव मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणानां तदीयसिद्धिबोधकत्वात्।"

इसके बाद उन्होंने पराशरस्मृतिकार की महिमा के प्रत्यायक कुछ श्रुतियों को उद्धृत कर लिखा कि यही बात वशिष्ठ, अत्रि, याज्ञवल्क्यादि स्मृतिनिर्माताओं के लिए भी समझनी चाहिये—

"एष एव न्यायो वशिष्ठात्रियाज्ञवल्क्यादिषु योजनीयः; तत्तद्विषयश्रुतीनामुपलम्भात्—

"ऋषयो वा इन्द्रं प्रत्यक्षं नापश्यन्। तं वशिष्ठः प्रत्यक्षमपश्यत्" (तै० सं० ३, ५, २, ५)

"अत्रिरदादौर्वाय प्रजां पुत्रकामाय" (तै०सं० ७,१,८,१)

"अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुः" इत्याद्याश्रुतयः"

इन प्रतीकों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिनका कि श्रुतियों में उल्लेख है और जिन्होंने मन्त्रों का दर्शन किया है, उन्होंने ही स्मृतियों की भी रचना की है; उनमें न तो भिन्नता है और अतएव न तो उनका दर्जा ही नीचा है। परन्तु कुछ पाश्चात्य लोगों का मत इन विद्वानों के बिलकुल विपक्ष में है। उनका कहना है कि शतपथ वाले याज्ञवल्क्य स्मृतिकार से बिल्कुल भिन्न व्यक्ति हैं। उनके इस कथन का एक ही आधार है, बस कल्पना। एक मानने में उन्हें जो जिच होती है, वह इसलिए कि स्मृति की भाषा शतपथ की भाषा से मेल नहीं खाती।

१—"न च पराशरमहिम्नोऽश्रौतत्वम्। 'स होवाच व्यासः पाराशर्यः' (तै० १, १, ३, ३७) इति श्रुतौ पराशरपुत्रत्वमुपजीव्य व्यासस्य स्तुतत्वात्। यदा सर्वसम्प्रतिपन्नमहिम्नो वेदव्यासस्यापि स्तुतये पराशरपुत्रत्वमुपजीव्यते तदा किमु वक्तव्यमचिन्त्यमहिमा पराशर इति। किञ्च वाजसनेयिशाखायां वंशब्राह्मणे वेदसम्प्रदायप्रवर्तकगुरुशिष्यपरम्परायां पराशरस्य पुत्र-पौत्रौश्रूयेते—

"घृतकौशिकः पाराशर्यात्, पाराशर्यायणः पाराशर्यात्, पाराशर्यो जातुकर्णात्" इति तस्मात् पराशरोऽपि मनुसमान एव।"

इसका सुलझा समाधान यह है कि शतपथ-ब्राह्मण याज्ञवल्क्य की कृति नहीं, उनकी अपनी कृति है—याज्ञवल्क्य स्मृति। शतपथ तो वेद है, अपौरुषेय है, जब वह ईश्वर की भी कृति नहीं मानी जाती तब उसे याज्ञवल्क्य की कृति समझना ज़रूर भूल से भरा है। याज्ञवल्क्य ने सूर्य से पढ़कर ही शतपथ को पाया था, स्वयं सूर्य को भी यह परम्परा से ही उपलब्ध हुआ था। सायण ने कहा है—**"अयं वेदः स्वयम्भूपरमेष्ठ्यादिपरम्परयाप्राप्त आदित्यशिष्येण याज्ञवल्क्येन बहुभ्यः शिष्येभ्यः उपदिष्टः" (कण्व सं० भाष्यभूमिका)**

अतः स्मृति और ब्राह्मण की भाषा यदि परस्पर मेल नहीं खाती तो ठीक ही है। यदि आज का कोई मेधावी व्यक्ति, जिसने शतपथ को अक्षरशः कण्ठ कर लिया है, हमारे आगे लौकिक संस्कृत में कोई रचना रखता है तो क्या हम कहेंगे कि इसकी यह रचना नहीं है, केवल इसलिए कि इस रचना की भाषा शतपथ से मेल नहीं खाती ? यदि नहीं; तब स्मृति को वृहदारण्यक वाले याज्ञवल्क्य की ही रचना कहने में कोई अनुपपत्ति नहीं होनी चाहिये।

आज का कुछ वर्ग ऐसा भी है, जो ब्राह्मण को वेद नहीं मानता और तब उसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह सायण को धता बता दे। मैं उस वर्ग के सन्तोष के लिए प्रामाणिक पुस्तकों का कुछ उद्धरण देता हूँ, जिससे यह स्पष्ट हो जायगा कि जिसतरह यजुर्वेद को याज्ञवल्क्य ने सूर्य से पाया था उसी तरह शतपथ भी उन्हीं से प्राप्त किया था—

"आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते" (श० प० १४, ९, ४, ३३)

"सौराणि ब्राह्मणानि च" (सर्वानुक्रमसूत्र)

इसके साथ-साथ मैं यह भी कह देना चाहता हूँ कि पाश्चात्यों की वह दृष्टि बिल्कुल बहिरङ्ग एवं एकदेशी है। पहले तो भाषा की कसौटी पर किसी ग्रन्थ के अर्वाचीनता आदि की ठीक-ठीक परख सम्भव नहीं।

दूसरे, उन लोगों ने अंग्रेजी आदि प्राकृत भाषाओं की तरह ही संस्कृत भाषा को देखने की भूल की है। उन्हें मालूम होना चाहिए कि संस्कृत में और भाषाओं की तरह परिवर्तन की बिलकुल गुंजाइश नहीं। संस्कृत की वैदिकी भाषा तो सर्वथा हानोपादानरहित है, उसकी एक मात्रा का भी उलटफेर कभी सम्भव नहीं, अतः वह तो भाषा की कसौटी पर कसी ही नहीं जा सकती। लौकिक संस्कृत भाषा भी व्याकरणों से कुछ ऐसी सुव्यवस्थित हो गयी है कि उसमें भी कालकृत अन्तर नहीं के बराबर है, ऐसे तो व्यक्ति-व्यक्ति की भाषा में उसकी अपनी छाप होती है। 'पृथ्वीराज रासो' और आज की हिन्दी में आकाश-पाताल का अन्तर आ उपस्थित हुआ है; इसी तरह ज्ञानेश्वरी की भाषा और आज की मराठी भाषा में बड़ा पार्थक्य आ गया है, बस सात सौ वर्षों में। परन्तु यह बात संस्कृत भाषा के लिए, उसके अरबों वर्षों की दीर्घ अवधि में भी, बिल्कुल लागू नहीं हुई। आदिकवि वाल्मीकि की भाषा में और आज की भाषा में कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं आया है। अतः एकदेशी दृष्टि से संस्कृत की धुँधली रूप-रेखा खींचना, सचमुच इसके साथ अन्याय करना है।

अतः जब हम याज्ञवल्क्य के यजुर्वेद और शतपथ-ब्राह्मण को प्रमाण मानते हैं, तब न्यायतः उनकी स्मृति को भी प्रमाण मानना ही पड़ेगा। अर्धजरतीय ठीक नहीं। अतः शनिपूजा में 'शन्नो' मन्त्र का विनियोग सुस्थित हुआ।

इसी तरह जैमिनि और बोधायन जैसे तत्त्वदर्शियों ने भी 'शन्नोदेवी' मन्त्र को शनिपूजन में विनियुक्त किया है—

"शन्नोदेवीरभीष्टय इति शनैश्चराय" (जैमिनीगृह्यसूत्र २, ६)

दूसरीबात यह है कि 'शन्नो देवी' मन्त्र में 'शं' यह शनि का बीजमन्त्र है। मीमांसा की **'श्रुति-लिङ्ग-वाक्य प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्"** इस पद्धति से 'शं' इस लिङ्ग से भी यह मन्त्र शनिपरक माना जाता है।

भीतरी बात यह है कि विनियोग में एक बहुत बड़ी शक्ति होती है। विभिन्न देवतापरक मन्त्र के विभिन्न विषय में विनियोग मिलने पर उस मन्त्र का अर्थ भी वैसा ही करना पड़ता है। **'निवेशनः सङ्गमनः'** इत्यादि ऋचाओं के देवता इन्द्र हैं। परन्तु ब्राह्मण ने जब इन्हीं ऋचाओं को गार्हपत्याग्नि के उपस्थान में विनियुक्त कर दिया, तब किसी न किसी तरह उन इन्द्रपरक ऋचाओं का अग्निपरक अर्थ किया जाता है। ब्राह्मण का विनियोग इस प्रकार है—**"निवेशनः सङ्गमनो वसूनामित्यैन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते।"**

इसी तरह 'शन्नो' मन्त्र का भी शनिपरक अर्थ कर लेना चाहिये।

'शन्नोदेवी' मन्त्र का शनिपरक अर्थ

उवट ने मन्त्रों के अर्थ करने की रीति बतलाते हुए लिखा है कि यदि किसी मन्त्र में कोई पद अधिक हो तो उसका अर्थ नहीं करना चाहिए और यदि किसी मन्त्र का कोई पद न्यून रह गया हो, तो उसे निवेश कर वैसा अर्थ कर लेना चाहिये—

'अतिरिक्तं पदं त्याज्यं हीनं वाक्ये निवेशयेत्'

भाष्यकार के इस प्रदर्शित पथ से 'शन्नो देवी' मन्त्र में 'हे शने' का निवेश कर लेना चाहिये, क्योंकि यह पद वहाँ हीन है। यहाँ दो तरह के प्रश्न उठ सकते हैं—एक तो यह कि तब तो हे वरुणादि पद का निवेश कर 'शन्नो' मन्त्र को वरुणपरक भी बताया जा सकता है? दूसरा यह कि क्या ऐसे सम्बोधनान्त पद का, जिसका कि मन्त्र में उल्लेख न हो, निवेश कर कहीं अर्थ किया गया है?

पहले प्रश्न का उत्तर यह है कि 'हे वरुण' पद का 'शन्नो' मन्त्र में इसलिए निवेश नहीं हो सकता कि निवेश में कोई प्रमाण नहीं। निवेश तो उसी पद का होता है जो हीन हो और हीन तब हो सकता है, जब कि विनियोगादि से तो जिसका ग्रहण हो किन्तु जो मन्त्र में उपात्त न हो। "शन्नो" मन्त्र का शनिपूजन में विनियोग है, परन्तु शनिपद मन्त्र में

पठित नहीं, अतः शनि पद हीन हुआ जिससे इसका तो निवेश हो सकता है। वरुण के लिए विनियोग तो मिलता नहीं, फिर वह हीन पद रहा ही नहीं, अतः अनवस्था भी नहीं रही।

दूसरे प्रश्न के उत्तर में निवेदन है कि बहुत से मन्त्रों में उस निवेश-नियम की व्यावहारिकता को देखा जा सकता है। कुछ उदाहरण दिये जाते हैं। कात्यायन ने **'द्यौरसि पृथिव्यसि'** (शु० यजु० १, २,) मन्त्र का उस स्थाली के आदान में विनियोग किया है, जिसमें क्षीर का प्रक्षेप होता है—**'द्यौरसि पृथिव्यसीति स्थाल्यादानम्।'** यजुर्वेद के इस मन्त्र में कहीं स्थाली पद पठित नहीं, पर इसी विनियोग के बल पर 'हे स्थालि' पद का निवेश कर इस मन्त्र का स्थालीपरक अर्थ किया गया है।

इसी प्रकार **'मातरिश्वनो घर्मोऽसि विश्वधा असि'** इस मन्त्र में भी स्थालिपद पठित नहीं। परन्तु कात्यायन के **'मातरिश्वन इत्य-धिश्रयतीति'** (४, २, २०) इस निनियोग के नाते इस में भी 'हे स्थालि' पद का निवेश कर अर्थ किया गया है।

उवट और महीधर की तरह सायणाचार्य ने भी बौधायन के **'अथाप्सु स्रुचं प्रतिष्ठापयति समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तरित्यथैना-मद्भिः पूरयति सं त्वाविशन्त्वोषधीरुताऽप इत्थ'** इस विनियोग के बल पर 'हे जुहु' पद का अध्याहार कर **'समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तः। सं त्वाविशत्वोषधीरुतापो'** (कृ० यजु० १, ४, ४५) इस मन्त्र का अर्थ किया है।

इसी तरह **'रोहितेन त्वाग्निर्देवतां गमयतु हरिभ्यां त्वेन्द्रो-देवतां गमयत्वेतशेन त्वा सूर्यो देवतां गमयतु'** इस मन्त्र में **'प्रस्तरं प्रह्रियमाणमनुमन्त्रयते रोहितेन त्वाग्निर्देवतां गमयतु हरिभ्यां त्वेन्द्रो देवतां गमयत्वेतशेन त्वा सूर्योदेवतां गमयतु।'** कल्प के इस विनियोग का आश्रयण कर 'हे प्रस्तर' पद का निवेश कर तत्परक अर्थ सायणाचार्य ने किया है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण के पहले काण्ड के प्रारम्भ में ऐसे बहुत से मन्त्र आये हैं, जिनके अर्थ करने में सायणाचार्य ने सम्बोधनान्त पदों का अध्याहार किया है। वह वहीं देखे जा सकते हैं।

इसी तरह विनियोग होने के नाते 'हे शने' इस सम्बोधनान्त पद का निवेश कर 'शन्नोदेवी' मन्त्र का शनिपरक भी अर्थ किया जाता है, जो विशुद्ध वेद की ही पद्धति है। शनि से प्रार्थना की जाती है कि—हे शनिदेवता, हमारा कल्याण हो, हमारे स्नान-पान में दिव्य जल सुखरूप हों, वे रोगों के शमन और भयों के पृथक्करण के हेतु हों।

ज्योतिर्निबन्ध से पता चलता है कि शनि का जल से घनिष्ट सम्बन्ध है—"**चलत्यङ्गारके वृष्टिस्त्रिधा वृष्टिः शनैश्चरे।**" शनि ही क्यों, सभी ग्रहों का पृथिवी पर एवं तरलता के नाते उससे भी ज्यादा जल पर असर पड़ता रहता है; और हवा-पानी की अच्छाई पर ही स्वास्थ्य मूलतः निर्भर है। ज्योतिर्निबन्ध के इस उदाहरण से पता चलता है कि और ग्रहों की अपेक्षा शनि का जल से घनिष्ट सम्बन्ध है। इस हालत में उनसे जल की विशुद्धता की माँग सर्वथा उचित है।

आज पाठ और अर्थ में अन्तर आ गया है, इसके दूसरे उदाहरण में आपने 'गणानान्त्वा' मन्त्र को उपस्थित किया है। इस सम्बन्ध में आपने दो प्रश्न उठाये हैं। एक तो यह कि गणेश जी वैदिक देवता नहीं, दूसरा यही कि इनके लिये जो आज 'गणानान्त्वा' मन्त्र पढ़ा जाता है, उसमें इनका ज़िक्र नहीं। आपके ही शब्दों में-"लगभग इतना ही गड़बड़ गणेश जी के सम्बन्ध में है। उनकी गणना वैदिक देवों में नहीं है, परन्तु वह सर्वत्र पुजते हैं और उनके लिये "गणानान्त्वा" मन्त्र पढ़ा जाता है। इस मन्त्र में गणपति शब्द आया तो है पर वस्तुतः इसका प्रयोग गणेश जी के लिये नहीं हुआ है। यह मन्त्र यजुर्वेद के अश्वमेधाध्याय से लिया गया है और वहाँ इसके द्वारा यजमान की पत्नी मेध होनेवाले घोड़े को सम्बोधन करती है। यदि सचमुच वेदों का अध्ययन होता तो शब्द-

साम्य के बल पर यह घोड़ेवाला मन्त्र गणेश जी के माथे न मढ़ा जाता।"

'गणानान्त्वा' मन्त्र का गणपति-परकत्व

"गणानान्त्वा" मन्त्र का सचमुच अश्वमेध में विनियोग है। पर इतने से गणेशपूजन में इसके विनियोग का खण्डन नहीं होता। यह आफ़त तो तब आती, जब एक स्थल में विनियुक्त मन्त्र का अन्यत्र विनियोग बाधित होता। पर ऐसी बात तो है नहीं। 'शन्नोदेवी' मन्त्र का ही अनेक कार्य्यों में विनियोग है—(क) वपाहोम के बाद मार्जन में—**शंभुमयोभूभ्यां चात्वाले मार्जयन्ति** (ख) वास्तुसंस्कार कर्म में जलपूर्ण घट से भूमि सेक में—**शम्भुमयोभूभ्यां निष्पादयति** (ग) आदित्याख्य शान्ति में इत्यादि। इसी तरह 'गणानान्त्वा' मन्त्र के अश्वमेध में विनियुक्त होने पर भी गणपतिपूजन में विनियोग होने के नाते यह गणपतिपरक भी है।

श्री पराशर जी ने इस मन्त्र का गणपतिपूजन में विनियोग बड़े स्पष्ट शब्दों में किया है—**गणानान्त्वेति मन्त्रेण गणेशमर्चयेत्सुधीः।**

आचार्य आश्वलायन ने भी 'गणानान्त्वा' मन्त्र से गणपति की पूजा का विधान बतलाया है। गृह्यपरिशिष्ट में चैत्ययज्ञ की प्रक्रियाओं के उल्लेख के बाद पूजायज्ञ की विधि को बता यह बतलाया है कि चैत्य कौन-कौन हैं—'**अथाहोमोऽहरहश्चैत्ययज्ञः। ते गणपतिर्वा स्कन्दो वा सूर्यो वा सरस्वती वा गौरी वा गौरीपतिर्वा श्रीपतिर्वाऽन्यो वा योऽभिमतस्त एते यथारुचि समस्ता वेज्यन्ते।**' इस तरह चैत्यों में गणेश जी का ज़िक्र कर उनके पूजन के तत्तन्मन्त्रों के निर्देश के अवसर पर यह बतला दिया है कि गणेश जी की पूजा 'गणनान्त्वा' मन्त्र से करे—'**अथ मन्त्राः—'गणानांत्वेति गणपतेः। कुमारश्चित्पितरमिति स्कन्दस्य। आकृष्णेन रजसेत्यादित्यस्य। पावका नः सरस्वतीति सरस्वत्याः। जातवेदस इति शक्तेः।**

त्र्यम्बकं यजामहे इति रुद्रस्य । गन्धद्वारामिति श्रियः । इदं विष्णुरिति विष्णोः ।'

इन दो अभियुक्तों के उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है 'गणानां त्वा' मन्त्र से गणेश की पूजा किसी अराजकता या अनभिज्ञता का प्रत्यायक नहीं ।

गणेशजी वैदिक देवता हैं

महर्षि पराशर के **'गणानान्त्वेति मन्त्रेण गणेशमर्चयेत् सुधीः'** इन शब्दों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि गणेशजी वैदिक देवता हैं । दूसरी बात यह है कि—गणेशाथर्वशीर्ष जैसे रहस्यादेशक ग्रन्थ के रहते इस सवाल की कोई गुञ्जाइश ही नहीं । इस ग्रन्थ की अर्वाचीनता का जो प्रश्न उठाया जाता है, उसका भी कोई महत्त्व नहीं । क्योंकि अत्रि आदि स्मृतियों में 'अथर्व शिर' का उल्लेख मिलता है । शङ्खस्मृति ने वेद के उन पवित्र सूक्तों के वर्णन के अवसर पर, जिनके जप-हवन से मानव सर्वदा पावन वन जाते हैं, अथर्व शिर का भी उल्लेख किया है— **'शतरुद्रियमथर्वशिरस्त्रिसुपर्णमहाव्रतम् ।'** 'अथर्व शिर' अनेक हैं, उनमें एक गणेशाथर्वशीर्ष भी है ।

इसके अलावा कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तरीय आरण्यक में गणेशजी के लिये मन्त्र आया है—

'तत्पुरुषाय विद्महे, वक्रतुण्डाय धीमहि ।
तन्नो दन्तिः प्रचोदयात् ।'

यह गणेश गायत्री है । इस श्रुति ने तो 'वक्रतुण्ड', 'दन्ति' का प्रयोग कर गणेशजी के उस रूप का भी संकेत कर दिया है, जो आगमों में प्रसिद्ध है और जो पौराणिकों की ज्यादती समझी जाती है ।

'तत्पुरुषाय' श्रुति का विमर्श

किन्तु आप की दृष्टि में यह मन्त्र प्रामाणिक नहीं । आपने अनेक अनुपत्तियाँ इसपर दी हैं । उनपर विचार कर लेना अपेक्षित है ।

आपने लिखा—"इसके सम्बन्ध में दो बातें विचारणीय हैं, एक तो यह कि वेदों के संहिता-भाग में सहस्रों मन्त्र हैं। अकेले ऋग्वेद में ११००० हैं। परन्तु, दन्ति या वक्रतुण्ड के नाम पर एक भी नहीं है।··· ब्राह्मणों में वैसे ही मन्त्र होने चाहिये जैसे संहिता में हों, क्योंकि, ब्राह्मणों में संहिता की ही व्याख्या सी होती है (पृ० ४७)।" इसके पहिले लिखा कि "वेदों में गणपति शब्द तो आता है पर गणेश के लिये नहीं" पृ०४६।

इस सम्बन्ध में मुझे तीन बातें कहनी हैं। एक तो यह कि संहिता में गणेशजी के लिये गणपति नाम पर मन्त्र आये हैं। एक उदाहरण **"गणानां त्वा गणपतिं"** मन्त्र है, जिसमें पराशर की स्पष्ट सम्मति दिखलायी जा चुकी है। इन महर्षि के अधिकार के सम्बन्ध में इतना ही दिखलाना पर्य्याप्त होगा कि, जिस तरह अभिमन्यु ने गर्भ में व्यूह भेदन पढ़ा था, उसी तरह इन्हें गर्भ में ही वेदों का पाठ विशुद्ध रूप से अभ्यस्त था, जिससे स्वयं वशिष्ठ जी को विस्मित होना पड़ा था। यजुर्वेद ने **'गणपतये स्वाहा २०।३०'** इस मन्त्र से गणपति के नाम से इन्हें आहुति भी दी है।

दूसरी बात यह है कि, जब इस तरह से यह सिद्ध हो चुका कि संहिता में गणपति नाम से गणेश जी का ज़िक्र है, तब 'वक्रतुण्ड' या 'दन्ति' के नाम पर यदि कोई मन्त्र न भी मिले तो कोई हर्ज़ नहीं। यह कोई ज़रूरी नहीं कि प्रत्येक देवता के पर्यायवाची प्रत्येक शब्द संहिता में आ ही जाँय। संहिता भर में गंगा का ज़िक्र बस दो मन्त्रों में है, इनके पर्यायवाची शब्द तो वहाँ मिल ही कैसे सकते हैं; तो बस यही एक नाजुक आधार क्या त्रिपथगा की अवैदिकता में सबूत होगा? श्रीज्ञानेश्वरी में "विठ्ठल" शब्द एक बार भी नहीं आया। यदि इसी आधार पर हम यह राय कायम कर लें कि ज्ञानेश्वर उनके उपासक न थे, तो क्या यह उनके साथ हमारा अन्याय न होगा; जब कि इसके पर्य्यायवाची बहुत से शब्द सीधे उनके हृदय की देन हैं? देखिये ज्ञानेश्वरी ९, ५२१; १२

२४१-२४४; ४, ८; १८, १४-१७।

तीसरी बात जो मुझे कहनी है, वह यह है कि ब्राह्मण संहिता का व्याख्या-मात्र नहीं हैं। यह तो आपके "सी" शब्द से भी व्यक्त हो रहा है।

इसके आगे आपने लिखा—"आरण्यक के जिस भाग में यह मन्त्र आया है उसमें जो मन्त्र हैं वह अन्यत्र कहीं नहीं मिलते।"

यदि इस भाग से आपका मतलब इस नारायणोपनिषद् के पहिले अनुवाक से है तब तो यह कहना बिलकुल संगत नहीं कि "इसमें जो मन्त्र हैं अन्यत्र कहीं नहीं मिलते।" क्योंकि इसी अनुवाक में "**इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति**" मन्त्र आया है, जो ऋग्वेद में भी मिलता है (देखिये १० मं० सू० मं०) और जिसका कि निरुक्त ने (९–२६) भी उल्लेख किया है। इसी तरह इसी अनुवाक का "**ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्**" मन्त्र ऋग्वेद के दसवें मण्डल के पहिले सूक्त में मिलता है।

और यदि इस भाग से आपका मतलब इस अनुवाक के गायत्री-रूपात्मक कुछ मन्त्रों से है, तब भी यह कथन संगत नहीं कि "इसमें जो मन्त्र हैं अन्यत्र कहीं नहीं मिलते", क्योंकि '**तत्पुरुषाय विद्महे, वक्रतुण्डाय धीमहि, तन्नो दन्तिः प्रचोदयात्**' मन्त्र कुछ हेर-फेर के साथ मैत्रायणी संहिता में भी उपलब्ध है—"**तत्कराटाय विद्महे, हस्तिमुखाय धीमहि तन्नो दन्तिः प्रचोदयात्।**" और इस पक्ष में आपके उत्तर ग्रन्थ का विरोध भी पड़ता है। आपने गायत्रीरूपात्मक यहाँ के सभी मन्त्रों को, जिनमें दुर्गा का भी मन्त्र आया है, प्रक्षिप्त माना है। परन्तु इसी अनुवाक में दुर्गा देवी के लिये एक ऐसा मन्त्र आया है, जिससे उनका स्पष्ट प्रतिपादन हो जाता है—

"तामग्निवर्णां तपसा ज्वलन्तीं वैरोचनीं कर्मफलेषु जुष्टाम्।"
दुर्गां देवीं शरणमहं प्रपद्ये।

यही मन्त्र ऋग्वेद के खिल में भी आया है।

'तत्पुरुषाय विद्महे' आदि मन्त्र प्रक्षिप्त नहीं

आगे आपने लिखा कि—"सायण ने इनको खिल मंत्र माना है। इस जगह एक मंत्र नन्दी के लिए और एक गरुड़ के लिए और एक दुर्गा या दुर्गी के लिए आया है। इन बातों को देखकर विद्वज्जन को कहना पड़ता है **"इत ऊर्ध्वं तेषु तेषु देशेषु श्रुतिपाठा अत्यन्त-विलक्षणाः"**—इसके बाद तत्तत् स्थान में अत्यन्त विलक्षण श्रुतिपाठ मिलते हैं। इन बातों से यह अनुमान होता है कि यह अंश प्रक्षिप्त है। पुराने विद्वान् निष्पक्ष विचारक थे उनको आरण्यक में दुर्गी, नन्दी और दन्ती के मन्त्र खटके, उन्होंने अपनी शंका स्पष्ट लिख दी।......आप लकीर पीटते हैं इसलिए आपको सब कुछ प्रमाण है।" (पृ० ४७)

यह ठीक है कि सायण ने नारायणोपनिषद् को, जिसमें **'तत्पुरुषाय विद्महे'** आदि मंत्र आये हैं, खिल माना है। पर इससे यह कभी व्यक्त नहीं होता कि यह प्रक्षिप्त या अप्रामाणिक है। सायण ने यहीं पर एक खिल की परिभाषा भी दी है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि वे खिल को सर्वथा प्रमाण मानते हैं। खिल की जो यहाँ परिभाषा दी है, उससे उनका यह भी आशय है कि लोगों में इसके प्रामाण्य के सम्बन्ध में कोई सन्देह न हो। उन्होंने लिखा है—**"कर्मोपासनब्रह्मकाण्डेषु त्रिष्वपि यद्वक्तव्यमवशिष्टम् तस्य सर्वस्याभिधानेन प्रकीर्णरूपत्वं खिलत्वम्"** तीनों काण्डों में जो वक्तव्य बच जाता है, उसका खिल में संकलन रहता है, यही खिल का खिलत्व है। इस तरह सायण ने खिल का लक्षण कर इसकी उपादेयता भी व्यक्त कर दी है। खिल की एक दूसरी परिभाषा महाभारत में मिलती है—**परशाखीयं स्वशाखायाम-पेक्षावशात् पठ्यते तत्खिलमुच्यते (म० भा० शा० ३२)**

इसका तात्पर्य यह है कि अपनी शाखा में अपेक्षातः दूसरी शाखा के जो मंत्रादि पढ़ने पड़ते हैं उसी का संकलन खिल होता है। इस परि-भाषा से भी खिल भाग की अप्रामाणिकता नहीं व्यक्त होती। सायण के

'इत ऊर्ध्वं तेषु तेषु' वाले वाक्य से आपने जो यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि "सायण" को "तत्पुरुषाय" आदि मंत्र खटके हैं, वे इन मंत्रों को सन्देह की नज़र से देखते हैं, यह भी उचित नहीं है। सत्य इसके बिल्कुल विपक्ष में हैं।

सायणाचार्य ने अपनी व्याख्या के प्रारम्भ के पहिले यह बतला देना आवश्यक समझा कि कौन सा पाठ उनकी व्याख्या का माध्यम होगा? क्योंकि इस उपनिषद् के विभिन्न देशों में पाठभेद बहुत हैं और प्रामाणिकता उन सब को प्राप्त है—"**तदीय पाठसम्प्रदायस्तु देशविशेषेषु बहुविध उपलभ्यते। तत्र यद्यपि शाखाभेदः कारणम् तथापि तैत्तरीयशाखाध्यापकैस्तत्तद्देशनिवासिभिः शिष्टैरादृतत्त्वात् सर्वोऽपि पाठ उपादेय एव।**" इसके बाद उन-उन देशों के शाखा-भेद का परिगणन करते हुए सायण ने स्पष्ट कर दिया है कि मेरी व्याख्या का माध्यम द्राविड़ पाठ होगा किन्तु आन्ध्रादि पाठ भेदों की भी सूचना यथा सम्भव देता चलूँगा—"**तत्र वयं पाठान्तरान्तराणि यथासम्भवं सूचयन्तः चतुःषष्ठिपाठं प्राधान्येन व्याख्यास्यामः।**" और इसी सूचना के अनुसार उन्होंने बीस ऋचाओं तक पाठान्तर की सूचना भी दे दी। परन्तु इसके बाद उन्हें बहुत से पाठभेद दीखे जिन को सूचित करते चलना सम्भव न था। तब पूर्व प्रतिज्ञा का अवसान सूचित करने की दृष्टि से लिखा कि इसके बाद आन्ध्रकर्नाटिकादि देशों में श्रुतिपाठों में बड़ा अन्तर आगया है, अतः अब मैं केवल द्राविड़ पाठ का ही आदर कर व्याख्या करता हूं, क्योंकि विज्ञानात्मप्रभृति पूर्वनिबन्धकारों ने द्राविड़पाठ का ही ज्यादा आदर किया है (अब मुझ से यह आशा न रक्खें कि मैं सभी पाठान्तरों की सूचना दे सकूँगा)—"**इत ऊर्ध्वं तेषु तेषु देशेषु श्रुतिपाठा अत्यन्तविलक्षणाः। तत्र विज्ञानात्मप्रभृतिभिः पूर्वनिबन्धकारैर्द्राविडपाठस्यादृतत्वाद् वयमपि तमेवादृत्य व्याख्यास्यामः।**"

अतः 'इत ऊर्ध्वं' प्रतीक से, जो पूर्वापर के बिना सचमुच भ्रामक प्रतीत होरहा था, यह सिद्ध करना कि सायणाचार्य को दन्ती आदि के मंत्र खटके हैं, कभी उचित नहीं। बल्कि यही कहा जा सकता है कि सायण को यह पाठ अवश्य अभिप्रेत है, क्यों कि यह वही द्राविड़पाठ है जिसका उनने ज्यादा आदर किया है। सायण को केवल यही पाठ अभिप्रेत नहीं वरन् वह तो सभी पाठ को उपादेय बतलाते हैं—**'सर्वोऽपि पाठ उपादेय एव।'** इसी तरह······**'आद्दनत्वाद्वयमपि तमेवा-द्दत्य'** इस पद के स्वारस्य पर भी ध्यान देना चाहिए।

सायणाचार्य तो स्वयं गणेश के पक्के पुजारी हैं। अपने प्रत्येक ग्रन्थ के प्रारम्भ में सब से पहले नियमतः वे इन की वन्दना में यह श्लोक पढ़ते हैं—

'वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम्॥'

इसीतरह मिताक्षराकार ने, जो सायण से पहिले के हैं, **'तत्पुरु-षायविद्महे'** मंत्र गणेश जी की नति के लिए लिखा है। अतः इस मंत्र की मान्यता में कोई भी अनुपपत्ति नहीं। सायणाचार्य ने अथर्ववेद भाष्य के उपोद्घात में उपवर्षाचार्य का **'नक्षत्रकल्पो वैतानस्तृतीयः संहिताविधिः। तुर्य आङ्गिरसः शान्तिकल्पस्तु पञ्चमः'** यह उद्धरण देकर इन पाँचों प्रकरणों में प्रतिपाद्य कर्म की तालिका दे दी है। शान्तिकल्प की तालिका में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में विनायक के लिये हवन-पूजा का विधान बतलाया है—**शान्तिकल्पेऽपि प्रथमं वैनायक ग्रहगृहीतलक्षणानि। तच्छान्तये संभाराहरणम्। अभिषेकः वैनायकहोमाः। तत्पूजा विधानम्।**

अतः सायण की मान्यता गणेश जी की वैदिकता के सम्बन्ध में स्पष्ट है।

महाभागवत ज्योतिपंत ने तो महागणपति का प्रत्यक्ष भी किया

था। उनके जीवन की अनेक घटनायें इस तत्त्व की सचाई की साक्षी हैं। महाराष्ट्र के बाल-सन्त ज्ञानेश्वर ने, जिनने वहाँ के अणु-अणु में आध्यात्मिक-मस्ती भर दी है और जिन की जीवनी मनुष्यों के लिए एक विस्मापक कहानी है, ज्ञानेश्वरी के प्रारम्भ में बड़ी मधुर भाषा में गणपति-रहस्य का संकेत किया है।

इसतरह सन्तों की दिव्य अनुभूतियाँ भी जब इस पक्ष में हैं, तब उनसे टकरानेवाले अशास्त्रीय तर्क का तकाज़ा हमें न सुनना चाहिए।

आगे की कुछ और अनुपपत्तियाँ

पृष्ठ १३ पर आपने गणेश जी के सम्बन्ध में दो और नयी बातें कहीं हैं। एक तो यह कि "इनके बिना किसी पूजा, किसी शुभ कृत्य का अनुष्ठान हो ही नहीं सकता! और दूसरा यह कि पहले ये विघ्नकारी रहे; पर अब इन की पदवृद्धि कर दी गयी, यह कल्याणकारी भी मान लिए गये।"

शास्त्रों ने एक ही परमात्मतत्त्व को जिस तरह इन्द्र, शिव विष्णु कहकर पुकारा है उसीतरह से गणपति कहकर के भी। और जिस तरह एक तत्त्व होते हुए भी इन्द्र, शिव, विष्णु की अपनी अलग-अलग विशेषता है, उसी तरह गणपति की भी है। इनकी अपनी विशेषता है, इनकी पूजा के बिना किसी भी शुभकृत्य का अनुष्ठित न होना। वेद ने भी इनकी इस विशेषता पर प्रकाश डाला है—

"न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे" (ऋग्वेद १०।११२।९)

रह गई दूसरी बात!

मौद्गलपुराण की कथा है कि एक बार कालरूप विघ्न ने बड़ा उपद्रव खड़ा किया। उससे वशिष्ठादि महर्षियों को भी भ्रान्त होना पड़ा। वे ब्रह्माजी के पास गये। ब्रह्माजी ने उन्हें गणपति की प्रार्थना को कहा। ऋषियों ने वैसा ही किया—तब विघ्नासुर गणेशजी की शरण में गया और दुनिया का अमङ्गल मिट गया। तभी से गणेशजी को विघ्नेश्वर या

विघ्नराज कहा जाता है। इस कथा से सिद्ध होता है कि वे मङ्गलकारी भी पहले से ही माने गये हैं। गणेशपुराण ने तो स्पष्ट शब्दों में इन्हें 'मङ्गलमूर्ति' कहा है।

इन्द्रादि देवों की उपेक्षा नहीं की गयी है

आपने लिखा—"वैदिक स्वाध्याय उठ जाने का यहाँ तक परिणाम पहुँच गया है कि आज का हिन्दू यह नहीं जानता है कि वह किसकी उपासना करता है। एक कोटि शब्द ने अनर्थ मचा रखा है। साधारणतः यही समझा जाने लगा है कि देवगण की संख्या तैंतीस करोड़ है। न कोई इनके नाम पूछता है, न पूछने पर कोई बता सकता है। जिस जगह से वह भूल पकड़ी जा सकती है, वहाँ पहुँच होती ही नहीं। जो थोड़े से विद्वान् वैदिकसाहित्य के ज्ञाता हैं वह अधर्म को रोकना और अज्ञान को दूर करना अपना धर्म नहीं समझते। इन्द्र, मित्रावरुण, अश्विद्वय, वायु, आदि वैदिक देवों को कौन पूछता है। अब तो स्वाहा पढ़कर भैरव और हनुमान और शीतला को आहुति दी जाती है; यही भुक्ति-मुक्तिभण्डार के स्वामी हैं।"

पुराण ने देवताओं की संख्या तैंतीस कोटि लिखी है, तन्मूलक ही जनता में तैंतीस करोड़ की ख्याति है। यह सच है कि इनकी क्रमबद्ध नामावली नहीं बतायी जा सकती। पर नाम न बता सकने के कारण संख्या का अपलाप तो नहीं हो सकता ? वेद में लिखा है कि जब ब्रह्मचारी हवन करने लगता है तब छ हजार तीन सौ तैंतीस देवता उपस्थित होते हैं—

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजना पृथग् देवा अनुसंयन्ति सर्वे।
गन्धर्वा एयामन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशता त्रिसहस्राः॥

अथर्व ३।८।९

पर इनकी भी नामावली कहीं नहीं लिखी; तो क्या देवताओं की यह संख्या झूठी समझी जायगी ? इस मन्त्र से यह भी सिद्ध हो जाता है

कि देवताओं की कुल संख्या तैंतीस ही नहीं। इस पर विस्तृत विवरण आगे आनेवाला है।

इन्द्रादि देवताओं की आज भी उपेक्षा नहीं की गई है। पूजन के साधारण अवसर पर भी गणपतिपूजन की तरह पंचलोकपालों और दशदिक्पालों की पूजा आवश्यक समझी जाती है। पंचलोकपालों में वायु और अश्विद्वय एवं दशदिक्पालों में इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, कुबेर, ईशान और ब्रह्मा की पूजा हो जाती है। अतः इन देवताओं के न पूछने का अभियोग लगाना उचित नहीं। भैरव, हनुमान और शीतला की वैदिकता के सम्बन्ध में आगे लिखा जायेगा।

विष्णुसहस्रनाम नामोपासना का विकसित रूप है

आगे आपने लिखा कि "कुछ नवीन पुस्तकों ने वेद की जगह ले ली है। यदि यह नयी पुस्तकें वेदार्थ को समझाने के लिये बनतीं या इनमें वह बातें विस्तार से कही गयी होतीं जो वेदों में संक्षेप से निर्दिष्ट हैं या इनमें किसी नयी और स्वतन्त्र दार्शनिक विचारधारा का अवलम्बन किया गया होता तो हम इनका स्वागत करते।" इसके बाद आपने लिखा कि "विष्णुसहस्रनाम का पाठ किया जाता है पर किसी संहिता का नहीं। नृसिंह, भैरव और हनुमान बहुतों को इष्ट हैं पर गायत्री को इष्ट नहीं किया जाता। महिम्नस्तोत्र का पाठ होता है पर सामवेद, जो सुनने में भी अच्छा लगता है, आज भुला दिया गया।"

आपने उन ग्रन्थों की मान्यता स्वीकार कर ली है जो वेदगत विषयों का विस्तार करते हैं। मैं कह सकता हूँ कि विष्णुसहस्रनाम आपकी इस मान्यता का कभी अतिक्रमण नहीं करता। वेद में नामोपासना का प्रमुख स्थान है। छान्दोग्य में लिखा है कि जो नाम की ब्रह्मरूप में उपासना करता है, उसकी जहाँ तक नाम की गति होती है, वहां तक यथेच्छ गति हो जाती है—"**नामोपास्वेति। स यो नामब्रह्मेत्युपास्ते याव-**

न्नाम्नोगतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति" (७, १, ५) कठोपनिषद् ने नामोपासना की सर्वातिशायिता खुले शब्दों में बतलायी है—**एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्** ।२।७। ओंकार का महत्त्व इसीलिये है कि वह भगवान् का नाम है—**"तस्य वाचकः प्रणवः ।" यो० सू० ।**

नामोपासना वह अनश्वर सरस विद्युत्प्रकाश है कि जिससे हमारा रपटीला पथ आह्लादक एवं मसृण तो बन ही जाता है, साथ ही दूर देश के वासी हमारे लक्ष्य को भी वह हम तक खींच लाता है। इसलिये सुगमता की दृष्टि से इसे अपनाना तो आवश्यक है ही, परन्तु इसके लिये अधिक आवश्यक है कि बिना इसके हमारा लक्ष्य दूर-दूर रहेगा और हम एक कदम भी न बढ़ सकेंगे; अजी हमारा बढ़ना भी बेकार रहेगा! सन्त तुलसीदास ने कहा है—

राम नाम इक अंक है सब साधन हैं सून।
अंक गये कछु हाथ नहिं अंक रहे दसगून॥

महाराज की इस उक्ति की प्रेरणा साक्षात् वेद ने की है। गोपथ में लिखा है कि यदि नामोच्चारण के बिना वेद का भी पाठ करोगे तो वह सफल न होगा—

'न मामनीरयित्वा ब्राह्मणा ब्रह्मवदेयुर्यदि वदेयुरब्रह्म तत्स्यात्, १, ३३।

मनु ने लिखा—

ब्राह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा।
स्रवत्यनोंकृतं पूर्वं पुरस्ताच्च विशीर्यति॥

गीता ने कहा—

'तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।' १७, २४

ईश्वर के अनेक नाम हैं, उनके सभी नामों से उनकी उपासना की जाती है—**'मर्त्ता अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे ।'** इसका प्रयोगा-

त्मक रूप 'शतरुद्रिय' है। महाभारत शान्तिपर्व में लिखा है कि वेद के शतरुद्रिय प्रकरण में रुद्र के सैकड़ों नाम हैं।

वेद ने तो स्पष्ट शब्दों में लिख दिया है कि इस पुरातन विष्णु का नाम प्रकाशरूप है—**'त्वेषं ह्यस्य स्थविरस्य नाम।'**

इतना ही नहीं, ऋग्वेद में विष्णु के नामसङ्कीर्तन के लिए तो विधिवाक्य भी उपलब्ध हैं। स्तुति करनेवाले को बड़ी दृढ़ता से बतलाया गया है कि पुराणपुरुष विष्णु के नामों को जानते हुए उनका उच्चारण करते रहो। कुछ लोग चाहे उनके नाम का जप न करें; पर हे विष्णु भगवान् हम तो बस तुम्हारी ही सुन्दर छवि का आश्रयण करते हैं—

'तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथाविदं
ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन।
आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन
महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे॥ २, २, २६

शङ्कराचार्य के शब्दों में—**'तमेव स्तोतारः पुराणं यथाज्ञानेन सत्यस्य गर्भं जन्म समाप्तिं कुरुत। जानन्त आ अस्य विष्णोः नामापि आवदत। अन्ये वदन्तु मा वा, हे विष्णो वयं ते सुमतिं शोभनं महः भजामहे।'**

विष्णुसहस्रनाम के अधिकांश नाम वेद में आ गये हैं। 'मधुसूदन' 'देवकीपुत्र' जैसे ऐतिहासिक नाम भी छान्दोग्यादि में उपलब्ध हैं। इस तरह यह सिद्ध होता है कि विष्णुसहस्रनाम का व्योमभेदी प्रासाद वैदिक सिद्धान्त की नींव पर खड़ा है; वैदिक सिद्धान्तबीज का ही यह विकसित रूप है।

इसीलिए पुराणादिकों में नाम-जप का बहुत अधिक विस्तार हुआ है। सन्त तुकाराम गहरे विश्वास से कहते हैं कि पुराण गरज कर नाम के गीत गाते हैं—**'नामाचे पवाडे गर्जती पुराणें।'** यही कारण है कि शङ्कराचार्य और ज्ञानेश्वर जैसे अद्वैतदर्शी-ज्ञानी ने भी इसकी महिमा

गायी है। ज्ञानेश्वरी में (प्र० १२, ९०) में लिखा है कि 'सहस्रों नामों की नौकाओं के रूप में सजकर मैं संसार के पार पहुँचानेवाला तारक जहाज बना हूँ।' शङ्कराचार्य ने विष्णुसहस्रनाम को 'प्रशस्तस्तवन' ठहराया है और इसपर विस्तृत टीका लिखी है—"**सहस्रनाम्नां स्तवनं प्रशस्तं निरुच्यते जन्मजरादिशान्त्यै।**" आगे चलकर उन्होंने यह भी लिखा है कि कर्मादि के वैगुण्य की भगवन्नाम के तीन बार के उच्चारण से ही पूर्ति हो जाती है—'**ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः (गी० १७,२३) इति भगवद्वचनात् स्तुतिनमस्कारादिकं कर्मासात्त्विकं विगुणमपि श्रद्धापूर्वकं ब्रह्मणोऽभिधानत्रयप्रयोगेण सगुणं सात्त्विकं सम्पादितं भवति।**' हमारे कर्मठों में तो आज भी इसकी व्यावहारिक उपादेयता है। प्रत्येक प्रक्रियाओं के अन्त में पुराण के यह दो श्लोक पढ़े जाते हैं—'**यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु। न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्।**' '**प्रमादात् कुर्वतां कर्म प्रच्यवेताध्वरेषु यत्। स्मरणादेव तद्विष्णोः सम्पूर्णं स्यादिति श्रुतिः।**'

इसी तरह महिम्न-स्तोत्र के अक्षर-अक्षर में ऋग्वेद की उपासना की आवाज़ है। भैरव की तरह नृसिंह भी वैदिक देवता हैं। तैत्तिरीय में लिखा है—

> '**वज्रनखाय विद्महे तीक्ष्णदंष्ट्राय धीमहि।**
> **तन्नो नारसिꣳहः प्रचोदयात्।**'

अतः इनके इष्ट करनेवाले भी वेदवर्त्म का ही अनुसरण करते हैं।

धर्माधर्म की नित्य नूतन कसौटी

आपने लिखा "वेदों से दूर जा पड़ने से धर्माधर्म की कसौटी ही बदल गयी, या यों कहिये कि अब कोई कसौटी रह गयी ही नहीं।"

मेरी समझ से इस कथन में तथ्य का सर्वथा साथ नहीं। स्पष्ट शब्दों

में कहा जा सकता है कि धर्माधर्म के निर्णय की पहले जो कसौटी थी, आज भी वही है; वह कसौटी न तो बदली है और न तो उसका अस्तित्व ही मिटा है। वह कसौटी शास्त्र ही रहा है और आज भी वही है—

"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ"

यहाँ शास्त्र पद अपने रूढ़ि अर्थ में नहीं, अपितु यौगिक अर्थ में है। जिसमें विश्वनियन्ता के कानून उपलब्ध हों और जो हिततम कर्त्तव्यों का उपदेश करता है, उसे शास्त्र कहते हैं—**"शासनाच्छंसनाच्छास्त्रम्"** **(परा० उपपु० १२ अ०)**। अतः शास्त्र कहने से वेद, स्मृति पुराण, सभी का ग्रहण होता है। रामानुजाचार्य ने लिखा है—**"शास्त्रं=धर्मशास्त्रपुराणोपबृंहिताः वेदाः" (गी० भा० १६, २४)**। शङ्कराचार्य ने **"शास्त्रविधि"** का अर्थ किया है—स्तुतिस्मृतिरूप शास्त्र की आज्ञा—**"श्रुतिस्मृतिशास्त्रचोदना"**। वेदान्तदर्शन के **"शास्त्रयोनित्वात्"** (१, १, ३) और जैमिनी के **"शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात्"** इन सूत्रों में शास्त्र पद से वेद भी अभिप्रेत हैं। भगवान् मनु और अत्रि ने स्पष्ट ही वेद के लिए शास्त्र शब्द का प्रयोग किया है—**"अशक्यश्चाप्रमेयश्च वेदशास्त्रमिति स्थितिः" (१२, ९४)** **"नहि वेदात्परं शास्त्रम्" (अत्रि सं० १, १४८)**। हाँ तो धर्माधर्म की कसौटी श्रुति, स्मृति, पुराण आदि शास्त्र ही है, इसी से उनका निर्णय हो सकता है। शास्त्र के अतिरिक्त दुनिया में कोई ऐसा प्रमाण नहीं है, जो परोक्ष की बात बतला सके। प्रत्यक्ष प्रमाण तो प्रत्यक्ष ही भ्रामक है। हमारी आँखें हमें आकाश को नील मानने के लिए बाध्य करती हैं, सूर्य का व्यास एक थाली से बड़ा नहीं बतलातीं; ऐसे अवसरों पर यदि हमने आँखो का विश्वास किया तो यह निश्चित है कि हम तथ्य को कभी न परख सकेंगे। हाँ, अनुमान प्रमाण यहाँ अवश्य हमें कुछ और आगे बढ़ा सकता है; पर माता-पिता के निर्णय में तो अनुमान को भी लाचार हो जाना पड़ता है। इस अवसर पर शब्द-प्रमाण की ही

एकान्त-आवश्यकता पड़ती है। धर्म की सूक्ष्मता सर्वानुभूत है। धर्माधर्म के निर्णय में बड़े-बड़े लोगों को भी व्यामोह हो जाता है—"किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।" अतएव धर्माधर्म के निर्णय जैसी बातों में ईश्वर के आज्ञाभूत शास्त्र को, जो ईश्वर की तरह ही नित्यनूतन है, प्रमाण माना जाता है। पुराणों को प्रमाण न मानना एक बड़ी भूल है। वेद ने पुराण को पाँचवाँ वेद कहकर पुकारा है—

(क) "इतिहासपुराणं पञ्चमं (वेदम्," (छा० उ० ७,१,२)

(ख) "पंच वेदान् निरमिमीत...इतिहासवेदं पुराणवेदम्" (गो० ब्रा० १, १०)

(ग) "तार्क्ष्यो वै पश्यतो राजेत्याह तस्य वयांसि वयोवधिकाश्च विशः तानुपदिशति पुराणं वेदः" (श० प० १३, ४, ३, १२)

(घ) अथर्ववेद में लिखा है कि पुराण परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ अङ्ग है—"एकं तदङ्ग' स्कम्भस्य पुराणमनुसंविदुः" (का० १० अनु० ४, सू० ७)

हम वेद को प्रमाण मानें और पुराणों की अवहेलना करें, यह तो युक्तियुक्त भी नहीं है। क्योंकि जिन महर्षियों ने मन्त्रों और ब्राह्मणों का दर्शन किया है, उन्होंने ही पुराणों का भी तो साक्षात्कार किया है! जिस तरह वेद भगवान के निश्वसित हैं पुराण भी तो उन्हीं के आज्ञाभूत हैं! फिर एक को प्रमाण मानना, दूसरे पर संशय की पैनी-दृष्टि डालना, यह कैसे न्याय्य कहा जा सकता है? भला इस अर्धजरतीय का भी कुछ मूल्य है? वात्स्यायन ने लिखा है—

"प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणस्य प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते, ते वा खल्वेते अथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यवदन्नितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेद इति। तस्मादयुक्तमेतदप्रामाण्यमिति......य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः

प्रवक्तारश्च ते खलु इतिहासपुराणस्य धर्मशास्त्रस्य चेति।"

प्रश्न हो सकता है कि अपौरुषेय होने के नाते वेद भले ही ईश्वर की तरह नित्य-नूतन माने जाँय; परन्तु पुराणादिकों में वह नित्यनूतनता कैसे टिक सकती है, जब कि वे रघुवंशादि की तरह पुरुषकर्तृक हैं—सादि-सान्त हैं ?

पुराणादिकों का प्रणयन ऋषियों ने किया है, यह सच है; परन्तु यह प्रणयन उस कोटि का नहीं जिसमें रघुवंशादि सन्निविष्ट हैं। कवि एवं विद्वानों की कृति में शब्द की तरह अर्थ भी उनका अपना कल्पित होता है; किन्तु पुराणादि स्मृतियों में ऋषियों को केवल शब्दयोजना अपनी ओर से करनी पड़ती है, उनका अर्थ उनके दिमाग की उपज नहीं होता। वेद के अर्थ की तरह पुराण का अर्थ भी त्रिकालाबाधित रहता है, ऋषि लोग समाधिपूत-प्रज्ञा से उसका स्मरण भर करते हैं। इसीलिए पुराणादि को भी स्मृति कहा जाता है। शास्त्र केवल दो दल में विभक्त है—श्रुति और स्मृति। श्रुति के अतिरिक्त पुराण-उपपुराण सभी स्मृत होने के नाते स्मृति कहलाते हैं। शङ्कराचार्य ने अनेक स्थलों पर पुराण को स्मृति कहकर पुकारा है। एक उदाहरण है—**"ननु समुद्राः सरितः सरांसि वाप्यः कूपाः यज्ञाः वेदाः मन्त्रादयश्च भूतिमन्तो ब्रह्माणमुपतिष्ठन्ते इति मानसत्वे विरुध्येत पुराणस्मृतिः।" (छा० उ० ८, ५, ४)**

हाँ, तो यही कारण है कि अन्य कवि-कृत रामायण और ऋषिप्रणीत रामायण में बड़ा भेद होता है। कवि-निर्मित रामायण के संवाद, सामाजिक चित्रण, भौगोलिक वर्णन आदि उसके कल्पित होते हैं, उनमें तथ्य के साथ-साथ अतथ्य का पुट अवश्य होता है; परन्तु वाल्मीकि रामायण में वाल्मीकि का अपना कुछ नहीं रहता। वाल्मीकि ने तो अपनी तपस्या और ब्रह्मा के वर के द्वारा रामायण के यथार्थ अर्थ को स्मरण कर उसी रूप में दुनिया के आगे रखा है।

कला के प्राण सौन्दर्य को निखारने के लिए उन्होंने उस अर्थ में कुछ भी नमक-मिर्च नहीं मिलाया, और न तो उसके अपकर्षक, वैरूप्याधायक, वस्तु को निकाल ही फेंका। हनुमान ने राम की जैसी कथा सीता को सुनायी थी उसे वैसे ही राम से दुहराया था। वाल्मीकि ने इस तथ्य को उसी रूप में रहने दिया, दोनों जगह फिर से राम की कथा लिखी ; पुनरुक्तिका विचार न किया। इसलिए ऋषियों की कृति कला की दृष्टि से नहीं, अपितु तथ्यार्थ की दृष्टि से होती है। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जो पुनरुक्ति आदि दोषों को काट-छाँट कर वाल्मीकि का संक्षिप्त रूप दिया है, यह उनकी कवि-सुलभ वृत्ति की ही प्रेरणा है। पर यह काम तथ्यदर्शी स्मृति कर्ताओं का कभी नहीं। उन्हें तो जिस अर्थ का जैसा स्मरण होता है वह चाहे सुन्दर हो या असुन्दर, उसे वैसा ही व्यक्त कर देना चाहिये।

पुराणादि स्मृतियाँ अर्थ रूप से नित्यनूतन हैं, अतः यह समझना भूल है कि वेदव्यास से पहिले पुराण रहे ही नहीं। वे रहे और अवश्य रहे। वेदव्यास से बहुत पहिले ब्रह्मा ने ही सर्वप्रथम पुराणों का स्मरण किया था। बल्कि कहा तो यह जाता है कि ब्रह्मा के द्वारा स्मृत होकर पहले पुराण प्रकट हुए, श्रुतियों को तो उन्होंने पीछे से प्रकट किया—

"पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥ (ब्रह्मा० पु०)

व्यासदेव ने जैसे ब्रह्मा से सर्वप्रथम आविर्भूत वेद को, जो द्वापर के अन्त में ह्रास को प्राप्त हो गया था, फिर से विस्तृत कर दुनिया के आगे रखा ; उसी तरह ब्रह्मा से ही स्मृत पुराण को ही उन्होंने फिर से स्मरण और उसका विभाजन कर दुनिया को दिया। अतः श्रुति की तरह स्मृति भी नित्यनूतन है।

कोरे तर्क की पङ्गुता

इसी सिलसिले में आपने निरुक्त के **'मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति तेभ्य एतं तर्कमृषिं**

प्रायच्छन्' इस उद्धरण से यह तात्पर्य निकाला है कि जब आजकल धर्म-प्रवचन करनेवाले साक्षात् ऋषि नहीं हैं, तो तर्क से काम लेना चाहिये; अर्थात् धर्माधर्म की कसौटी आपने कोरे तर्क को ठहराया है। इस सम्बन्ध में मैं स्पष्ट कह देना चाहता हूं कि निरुक्त के उपर्युक्त उद्धरण का आपने जो तात्पर्य निकाला है, उसका वह तात्पर्य ही नहीं, इस उद्धरण से यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि धर्माधर्म के निर्णय में हम कोरे तर्क को प्रश्रय दें।

'मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रमत्सु' वाली बात यास्क ने अपने ग्रन्थ के उपसंहार के अवसर पर लिखी है। उन्होंने बतलाया कि निरुक्त की सबसे बड़ी उपादेयता है—मन्त्रों के अर्थ करने की शैली को बतलाना। पहले तो ऋषियों को मन्त्रार्थ का साक्षात्कार होता था, उन दिनों निरुक्त की उतनी उपादेयता न थी। पर उनके न रहने पर मन्त्रार्थ समझने के लिये निरुक्त की अनिवार्य आवश्यकता आ पड़ी। इसी बात को उन्होंने 'मनुष्या वा' इन शब्दों में स्पष्ट किया है। इसका अर्थ यह है कि 'ऋषि जब पृथिवी से उठने लगे तब मनुष्यों ने देवताओं से पूछा कि हमारा ऋषि कौन होगा, मन्त्रार्थ निर्णय कौन करेगा? तब देवताओं ने इस निरुक्त शास्त्र को (एतं तर्कमृषिं), जिसमें मन्त्रार्थ विषयक ऊह हुआ है (मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूल्हम्), ऋषि के रूप में दिया। यहाँ 'तर्क' पद का 'निरुक्त-शास्त्र' अर्थ करना उचित जँचता है। 'एतं' तथा 'मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूल्हम्' इन विशेषणों के विश्लेषण से यह स्पष्ट निर्णीत हो जाता है। अतएव समनन्तर ही **'तस्माद् यदेव किं चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवति'** इस वाक्य में 'अनूचान' पद की अन्वर्थता चरितार्थ होती है। इस वाक्य का अर्थ है कि 'चूँकि निरुक्त शास्त्र ही आए दिन हमारा ऋषि (मन्त्रार्थ बतलाने वाला है) है, अतः इस शास्त्र का विद्वान् (अनूचान्=निर्वचन करनेवाला) जो कुछ मन्त्रार्थ चिन्तन करता है, उसे आर्ष ही समझना चाहिये। इसके अर्थ को आर्ष

इसीलिये कहा गया कि इसने ऋषि (निरुक्त) के अनुसार अर्थ किया है।

और यदि 'तर्कमृषिं' का प्रसिद्ध अर्थ तर्क करें' तो भी 'धर्मसम्बन्धी तर्क' यह अर्थ नहीं बन सकता। क्योंकि तर्क का विशेषण है 'मन्त्रार्थ चिन्ताभ्यूहमभ्यूल्हम्'। विशेषण के समभिव्याहार में विशेष्य अपनी स्वतन्त्रता खो देता है, विशेषण से बद्ध होकर ही वह उपस्थित होता है; अतः 'मन्त्रार्थसम्बन्धी ऊह' यही अर्थ होगा। 'बलवन्तं पुरुषमानय' कहने पर 'बलवान पुरुष को लाओ' यही अर्थ होता है। यहाँ पुरुष पद में अपनी ओर से निर्बल विशेषण जोड़कर 'निर्बल पुरुष को लाओ अर्थ नहीं कर सकते। अतः तर्क पद में भी 'धर्म-सम्बन्धी' ऐसा विशेषण नहीं जुट सकता।

आपने जो 'मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु' का प्रतीक दिया है, वह अधूरा उद्धृत है। 'प्रायच्छन्' के बाद पूर्णविराम का चिन्ह भी ठीक नहीं। पूरा प्रतीक इस तरह है—

"मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूल्हम्।"

इस तरह तय हुआ कि निरुक्त शास्त्र कभी कोरे तर्क का पक्षपाती नहीं। यही क्यों; हमारे सभी धर्मशास्त्रों ने कोरे-तर्क को खतरनाक बतलाया है। तर्क अवश्य आँख का काम करता है, पर आखिर आँख की भी तो शक्ति सीमित होती है ! जिस तरह हमारी आँखें मन आदि पदार्थों को देख नहीं सकतीं, प्रकाश के बिना स्थूल-वस्तुओं को भी परख नहीं सकतीं; उसी तरह तर्क भी अतीन्द्रिय वस्तुओं में अन्धा बन जाता है। शास्त्रों के पुनीत-प्रकाश को पाकर ही वह देख सकता है, स्वतः नहीं—

"न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते।
ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमहेतुकम् (वाक्यपदीय १,१३)

अतः धर्म के निर्णय में भी कोरे तर्क की आँखें अवश्य निकम्मी हो जाती हैं। तर्क पङ्गु होता है, बिना आगम की लाठी लिये बढ़ नहीं सकता। इसीलिये **"तर्कोऽप्रतिष्ठः"—(महाभारत), "तर्काऽप्रतिष्ठानात्" (वे० द० अ० २, पा १, सू० ११), "नैषा तर्केण मतिरापनेया" (उपनिषद् ।)** कहा गया है।

अर्थवाद की दुरवगाहता

इसके बाद आपने **"उपवासे तथा श्राद्धे न कुर्याद् दन्तधावनम्। दन्तानां काष्ठसंयोगो दहत्यासप्तमं कुलम्"** इत्यादि कुछ ऐसे श्लोकों को उद्धृत किया है, आप के शब्दों में, जिनका एकमात्र सहारा अन्ध-श्रद्धा है और जिन्हें कोई भी समझदार अपनी बुद्धि में नहीं उतार सकता। आपकी राय में ऐसे आदेशों एवं उपदेशों का धर्म-ग्रन्थों में जङ्गल लग गया है, जिसे जड़ से काट देना चाहिये।

इस सम्बन्ध में मेरा कहना यह है कि धर्मशास्त्र के उपर्युक्त-वचन अतिरञ्जित-भाषा में कहे गये हैं; वे अर्थवाद हैं। यदि उनकी यथाश्रुति पर बुद्धि जवाब दे देती है, तो यह अर्थवाद के लिये दूषण नहीं, अपि तु भूषण है। वेदों में ऐसे शत-शत वचन मिलते हैं जिनकी यथाश्रुति बुद्धि को एकदम चकमा दे देती है। इसीलिये आज से बहुत पहले ही अर्थवाद को झूठा समझ इसके धर्ममूलत्व और धर्मोपयोगित्व का खण्डनात्मक–आन्दोलन उठाया गया था। महर्षि जैमिनी ने **"आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमित्युच्यते"** इत्यादि छ सूत्रों से उन कोरे बुद्धि-वादियों के पक्ष का प्रदर्शन कर **"विधिना त्वेकवाक्यत्वात्"** इत्यादि सूत्रों से अर्थवाद का धर्ममूलत्व और धर्मोपयोगित्व सिद्ध किया है। ऋग्वेद-भाष्य भूमिका में सायण ने इन सूत्रों की विशद व्याख्या की है। निरुक्तभाष्यकार दुर्गाचार्य ने वेद को इसीलिये दुरवगाह बतलाया है कि वेद में अर्थवाद भरे पड़े हैं, अधीर

व्यक्ति उनकी यथाश्रुति से भ्रम में पड़ जाता है—

"अर्थवादाश्च यथाश्रुतग्राहिणो विदुषोऽपि परमभ्रान्ति-हेतवः"

अतः यथाश्रुति पर ही निर्भर रहना ठीक नहीं। वेदों की तरह पुराणों में अर्थवाद हैं। अतः संशय तो उठेंगे ही, परन्तु इसी वजह से हम यदि शास्त्रों को ही अननुष्ठापक मानने लगें तो यह हमारी कमजोरी है, अन्याय है। अतः अर्थवादों को समझने के लिये जरा धीरता, तप और व्याख्यान की आवश्यकता है—

"तस्यास्तपसा 'पारमीप्सितव्यम्" (निरुक्त)

"व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि संदेहादलक्षणम्"

(महाभाष्य)

भाषा-तत्ववेत्ताओं के लिये अर्थवाद कोई पहेली नहीं रह जाता। बोल-चाल की भाषा में भी अर्थवाद का स्थान है। गौ की प्रशंसा में एक अनपढ़ व्यक्ति भी बोल उठता है—"भाई गौ तो पशु नहीं है।" केवल वाक्यों की यथाश्रुति पर निर्भर रहनेवाला व्यक्ति 'गौ तो पशु नहीं है' इस बात को अपनी बुद्धि में कैसे उतार सकता है ? दुनिया के प्रत्येक भाषा में अर्थवाद का स्थान है और आदर भी। अतः अर्थवाद से अनुप्राणित उन उपदेशों के उद्यान को वीरान करने की कोई आवश्यकता नहीं।

सुस्पष्टता की दृष्टि से मैं धर्मग्रन्थ के उन वचनों का, जिनको कि आपने उद्धृत किया है, श्रुतियों से साम्य दिखला देना अच्छा समझता हूँ—(क) पहले श्लोक का **"उपवासे तथा श्राद्धे न कुर्याद् दन्तधावनम्"** यह अंश विज्ञान की भित्ति पर स्थित है। कुछ खास अवसरों पर दन्तधावन का न करना स्वास्थ्य की दृष्टि से भी आवश्यक है। आयुर्वेद का सिद्धान्त है—**"नाद्यादजीर्ण-वमथु-श्वास-कास-ज्वरार्दिती। तृष्णास्यपाक-हृन्नेत्रशिरःकर्णामयी च तत्"** (अष्टा-

ञ्हृदय) अतः धर्मशास्त्र के श्लोक का यह अंश समझ के दायरे से बाहर नहीं। **"दहत्यासप्तमं कुलम्"** इस दूसरे अंश में अर्थवाद है। इस अर्थवाद की समता इस श्रुति से कीजिये—**"आसप्तमान्तस्य लोकान् हिनस्ति"** अर्थ एक ही है केवल शब्द बदले हैं। 'लोक' शब्द का एक अर्थ शङ्कराचार्य ने पीढ़ी किया है, वही, जो 'कुल' शब्द का अर्थ है।

(ख) **"यः करोति तृतीयायां विष्णोश्चन्दनपूजनम् । वैशाखस्य सिते पक्षे स याति हरिमन्दिरम्"** यह पुराण का अर्थवाद है। इस अर्थवाद की समता इन श्रुतियों से कीजिये—

(।) **"धावति धारा सुतस्यान्धसः" (ऋग्वेद ९,५८,१)**

अर्थात् सोम की धारा से ऊर्ध्वगति प्राप्त करता है—**"धावति गच्छत्यूर्ध्वां गतिम् (निरुक्त)**

(॥) **"तरत्स मन्दी" (ऋग्वेद, ९,८,१)**

अर्थात् स्तुति करनेवाला सभी पापों से छूट जाता है—**"तरति स पापं सर्वं मन्दी = यः स्तौति" (निरुक्त)**

(।।।) **"पूर्णाहुत्या सर्वान् कामान् अवाप्नोति"**

(ग) अर्थात् पूर्णाहुति से सभी कामनायें पूर्ण होती हैं।

इसी तरह **"आसप्तमात्कुले तस्य न भयं सर्पतो भवेत्"** इस अर्थवाद का **"नास्याब्रह्मवित्कुले भवति"** इससे साम्य स्पष्ट है। बल्कि वेद का यह अर्थवाद कि ब्रह्मवेत्ता के किसी भी पीढ़ी में अज्ञानी होता ही नहीं, पुराण के अर्थवाद से कहीं बुद्धि से परे हो गया है।

(घ) व्रतविधान वैदिक है। अतिरात्र, सत्रसद्य आदि विविध व्रतों का उल्लेख वेदों में है। अथर्ववेद के उच्छिष्ट सूक्त में व्रत का उल्लेख सामान्यतया और अधिकतर विशेषतया मिलता है—

अग्निहोत्रञ्च श्रद्धा च वषट्कारो व्रतं तपः ।

दक्षिणेष्टं पूर्त्तञ्चोच्छिष्टेधि समाहितः ।"
(काण्ड ११, अनु० ४, सूक्त ७)

रामनवमी-व्रत का स्रोत यही है। उसे न करने से प्रत्यवाय होता है, इसी बात को अर्थवाद से कहा गया है—**"उपोषणं न कुरुते कुम्भीपाकेषु पच्यते ।"** इस अर्थवाद की समता में ईशोपनिषद् का यह मन्त्र लें—**"तमिस्रा नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृता:, ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति"**

उपर्युक्त पुराण-वचन पर आपका यह आक्षेप है कि "एक रामवमी को व्रत न रहना सारे सत्कर्मों पर पानी फेर देता है।'

इस सम्बन्ध में मैं यही निवेदन करूँगा कि यह आक्षेप निराधार है। अर्थवाद से केवल यही कहा गया है कि 'रामनवमी को व्रत न रहने से नरक में जाना पड़ता है। 'सारे शुभकर्मों की भी सफाई हो जाती है, यह तो अभिधया नहीं लिखा, व्यङ्ग्य अर्थ भी नहीं हो सकता। क्योंकि प्रायेण पाप से पुण्य का एवं पुण्य से पाप का बाध नहीं होता, दोनों का फल अलग-अलग भोगना पड़ता है। युधिष्ठिर के महान् से महान् पुण्य उनके एक बार के असत्य-जन्य पाप को न मिटा सके। उन्हें उसके लिये नरक जाना ही पड़ा।

पुराणादि अधर्म के प्रोत्साहक नहीं

आगे आपने पुराणादिकों के सम्बन्ध में लिखा है कि "इन्होंने मोहक लटके निकालकर सत्य, दृढ़ता, तप, श्रम के आश्रयण एवं झूठ, कपट के त्याग की आवश्यकता ही मिटा दी है। इनने सभी कामों को सस्ता कर दिया है, जिससे पापों को प्रोत्साहन मिला है"। उदाहरण में सत्यनारायण-व्रत कथा को रक्खा है।

पुराणादि यदि दुःसाध्य रोगों की दवा थोड़ी कीमत में देते हैं, तो यह उनकी बड़ी उदारता है। समय के लिहाज़ से इसकी बड़ी आवश्य-

कता थी। पर कीमती दवा सेवन करनेवालों पर यह किसी प्रकार की रोक नहीं लगाते। जो समर्थ हैं, वे धन की धारा बहा अपने को नीरोग कर सकते हैं, पर जो लाचार हैं, उन्हें भी तो कोई सहारा मिलना चाहिये; आखिर जीने का अधिकार उन्हें भी तो है? अगर कोई वैद्य निर्धनों पर रियायत करता है, उनकी सूखती और तड़पती आशा में जिन्दगी भर देता है तो समझना चाहिये कि उसमें महामानवता की पुकार है। यदि ऐसे वैद्य पर यह अभियोग लगाया जाय कि इनने थोड़ी कीमत की दवा देकर कीमती दवाओं की हत्या कर दी है, तो यह कहाँ तक न्याय्य होगा? पुराणों ने दवा का दाम घटाया सही, पर पथ्य तो वही रहने दिया जो समर्थ रोगियों के लिये है? पुराण कभी नहीं कहते कि तुम असत्य आदि कुपथ्य करते रहो, हमारी दवा तुम्हें चंगा कर देगी? बल्कि, उनका यही तकाजा रहा है कि 'हमारे तीर्थ, व्रत, कथा आदि औषध तुम्हारे अन्न तक के पापरोगों को अवश्य नष्ट करेंगे, पर शर्त यही कि इनके भरोसे पाप को प्रश्रय मत देना, धर्मरूप पथ्य को निभाते रहना, नहीं तो ये औषध ही विष बन जायेंगे।' यही आवाज सत्यनारायण-व्रत कथा की भी है। अतः हम खुले शब्दों में कह सकते हैं कि—

सत्यनारायण-व्रत कथा सदय-हृदय की सर्व-सुलभ दिव्य देन है

सत्यनारायण की कथा के सम्बन्ध में पहला आक्षेप यह है—"किसी कहानी में कहीं एक जगह भी भगवान् सत्यनारायण किसी से यह नहीं कहते कि तू सत्य बोला कर, नहीं तो तेरा व्रतोपवास मैं स्वीकार न करूँगा।"

सत्यनारायण कथा का आशय है कि हम सत्य बोलें

यह ठीक है कि किसी भी कथा में भगवान् ने खुले शब्दों में सत्य बोलने का आदेश नहीं दिया है। पर व्यञ्जना से यह निकल आता है कि भगवान् ने सत्यनारायण पूजा में सत्य बोलने का ही सबसे ज्यादा महत्व बतलाया है। प्रभुसम्मित-वाक्य की अपेक्षा मित्र-सम्मित एवं कान्ता-

सम्मित-वाक्य की उत्तरोत्तर लाभकारिता है। मम्मट के काव्यप्रकाश में इसका विशद विवेचन है। अतः भगवान् सत्यनारायण ने खुले शब्दों से, प्रभुसम्मित वाक्य से नहीं, अपितु मित्र-सम्मित वाक्य से ही साधु बनिया को समझाया कि सत्यनारायण-व्रतकथा का प्रधान ध्येय है—सत्य बोलना। जिस तरह रामायण में खुले शब्दों में यह नहीं लिखा कि 'तुम राम की तरह आचरण करो, रावण की तरह नहीं' पर यह उस कथा का तत्व है ज़रूर। इसी तरह सत्यनारायण कथा का भी तत्व है—सत्य बोलना; भक्तिपुरःसर परमात्मा की पूजा करना!

साधु बनिया भूल से असत्य पथ पर आ पड़ा; अपने वादे को टालते-टालते आखिर भूल गया। उसे इसका दण्ड मिला, कैद कर लिया गया। इससे उसने अपनी गलती तो समझी, पर उसका उचित प्रतिशोध न कर सका—पूजा तो की पर 'यथा विधि' नहीं; सत्य की उसने अवहेलना की। उसे सावधान करने के लिए उसकी पुनः परीक्षा ली गयी; पूछा गया—"तुम्हारे नाव में क्या लदा है?" साधु बनिया अनुत्तीर्ण हुआ—उसने फिर सत्य की हत्या की, कहा—"इसमें लतापत्र है।" चेतावनी के लिये फिर दण्ड दिया गया। तब, इस बार सम्भला, उसने सत्य को अपनाया और तभी उसकी इस बार की पूजा विधिपूर्वक मानी गई—**पूजां कृत्वा यथाविधि**, इस तरह इस कथा से सत्य का ज़ोरदार समर्थन

१—भविष्यपुराण में जो सत्यनारायण व्रत कथा आयी है, उसमें तो अभिधावृत्ति से भी सत्य बोलने का महत्व बतलाया गया है और यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि सत्य के समुचित आश्रयण के नाते ही इस व्रत कथा की सर्वातिशायिता है—

चतुष्पादो हि धर्मस्य तस्य सत्यं प्रसाधनम्।
सत्येन धार्यते लोकः सत्ये ब्रह्म प्रतिष्ठितम्॥
सत्यनारायणव्रतमतः श्रेष्ठतमं स्मृतम्।
(भवि० पु० प्रतिस० प० २४ अ०)

हुआ है। अन्यत्र भी सत्य की उपादेयता बतलायी गयी है, **'सत्यरूपी सनातनः'** कहकर सत्य को ईश्वर के रूप में उपस्थित किया गया है।

इस कथा में नारद के लिये 'वत्स' का सम्बोधन और भगवान् के द्वारा नैवेद्य की माँग, जो अन्यत्र कहीं नहीं मिलती, एक गूढ़ रहस्य का संकेत करती है। इस कथा का असली तत्त्व उसी रहस्य में निहित है।

साधु बनिया का धन बेईमानी का न था

कथा पर दूसरा आक्षेप आपका यह है—"साधु बनिया विदेश से धन कमाकर लौटा और उसी धन से सत्यदेव की पूजा की। आपकी राय में सत्यनारायण भगवान् को यही चाहिये था कि वे साधु बनिया की पूरी भर्त्सना करते। पूछते, तुमने इतना धन कैसे पाया? क्योंकि इन्हीं ने व्यासरूप में 'नाच्छित्वा परमर्माणि' वाले श्लोक में बतलाया है कि बिना सैकड़ों प्राण लिये महती श्री नहीं पायी जा सकती।

महती-श्रीवाली बात प्रत्येक मनुष्य पर भिन्न-भिन्न रूप से लागू होती है। ८) मासिक पानेवाले के लिये ८०००) की रकम 'महती-श्री'

फिर आगे चलकर यह बतलाया गया है कि साधु बनिया को जो मुसीबतें उठानी पड़ीं—उसे जो बन्दी बनाया गया और उसके धन का जो अपहरण किया गया—वह सब सत्य की हत्या के कुपरिणाम थे—

कर्मणा मनसा वाचा न कृतं सत्यसेवनम्।
ततः कर्मविपाकेन तापमापाद्विराड्वणिक्॥ अ० २८
यत्र सत्यं ततो धर्मस्तत्र लक्ष्मीः स्थिरा भवेत्।
सत्यहीनस्य तत्साधोर्धनं यत्तद्गृहे स्थितम्॥
हृतवानवनीपालः.......................... ॥ २९

और वहीं भविष्य पुराण में, भगवान् ने परिव्राजक के रूप में खुले शब्दों से कह दिया कि "तू सच बोला कर, मूर्खता छोड़, झूठ मत बोल"—

त्यज मौढ्यमतिं साधोऽपवादं मा वृथा कृथाः।

है। अयोग्य होने के नाते बिना किसी के मर्म-छेदन किये वह इतनी रकम नहीं पा सकता। पर यही रकम न्यायतः ८०००) मासिक पानेवाले के लिए अधिक नहीं; इन महाशय का यह धन बेईमानी का न माना जायगा। व्यासजी ने ऐसे श्रीमान् को आदर दिया है, इन्हें 'शुचि-श्रीमान्' कहा है—**शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।**' तत्व यह है कि (अन्यायतः) महान् श्रीमान् होना आफत है, शुचि-श्रीमान् होना नहीं। सत्यनारायण कथा से साधु बनिया के धन कमाने की नीयत बुरी नहीं मालूम पड़ती। बल्कि, साधु बनिया के लिये बार बार 'सज्जन' 'धर्मवित्' आदि शब्दों का प्रयोग कर इस कथा ने तो उसके सम्बन्ध में अपनी अच्छी धारणा व्यक्त कर दी है। व्यापार के समय उसका जामाता भी, जो उसके साथ रहा, विदेश में एक पैसे से सौ पैसे बनाने, लूटने-खसोटने नहीं गया था। पूरी रकम[1] उसके पास थी—'**वाणिज्यमकरोत् साधु जामात्रा श्रीमता सह।**' इस प्रकार कथा ने तो साधु बनिया को 'शुचि-श्रीमान्' के रूप में ही उपस्थित किया है। अतः उसके धन के सम्बन्ध में बुरी नीयत करने की कोई गुंजाइश नहीं।

हाँ, साधु बनिया के चरित्र में उसके एक दोष का भी चित्रण हुआ है। वह यह कि उसने अपने वादे को अनेक बार टाल दिया था। परन्तु इसी एक त्रुटि की वजह से संशय की दृष्टि से उसे न देखें। नहीं तो सत्य के महाव्रती उन श्रीहरिश्चन्द्र पर से भी अपनी श्रद्धा हटा लेनी पड़ेगी, जिनकी कथा को आप ने बड़ा उपादेय माना है और जिसका

१—भविष्यपुराण से पता चलता है कि साधु बनिया लक्षपति रहा और उसका जामाता शङ्खपति। वह शील औदार्यादि गुणों से युक्त था—

अथ रत्नपुरख्यायी साधुर्लक्षपतिर्वणिक्।
नगरे काञ्चनपुरे वणिक् शंखपतिः श्रुतः॥
कुलीनो रूपसम्पत्तिशीलौदार्यगुणान्वितः।
वरयामास साधुर्दुहितुः सदृशं वरम्॥

कि इन कथाओं के स्थान पर प्रचार चाहा है। क्योंकि ऐतरेय ब्राह्मण से पता चलता है कि हरिश्चन्द्र ने पुत्रप्राप्ति के लिये वरुण की मनौती मानी और पुत्र हुआ तो वादे को आगे-आगे बढ़ाते गये। यदि इस त्रुटि को नगण्य मान, जो उचित है, हम अपनी श्रद्धा हरिश्चन्द्र की ओर से नहीं हटा लेते, तो बेचारा साधु बनिया ने ही हमारा क्या बिगाड़ा है, जो उसकी कथा न सुनें ? हरिश्चन्द्र की कथा सुनें, जरूर सुनें, रोज सुनें, सुनना ही चाहिये; क्योंकि दिव्यजीवन की वह जरूरी खूराक है; परन्तु उसी की पूर्ति में जब साधु बनिया की कथा सहायिका बनती है, तब उससे द्वेष क्यों ?

सत्यनारायण व्रत कथा अधर्म की प्रोत्साहिका नहीं

तीसरा आक्षेप यह है कि "सत्यनारायण भगवान् का व्यवहार रिस्वत लेनेवाले पुलिस की तरह है, तुम चाहे जो करो हम आँखें बन्द कर लेंगे, परन्तु हमारा हिस्सा देते जाओ।"

मेरा निवेदन है कि यह आक्षेप निराधार है। "तुम चाहे जो करो हम आँखें बन्द कर लेंगे, परन्तु हमारा हिस्सा देते जाओ" यह आवाज यदि सचमुच सत्यनारायण व्रत कथा या अन्य पुराणों की होती, तो पापों के प्रोत्साहन का अभियोग इन पर था। पर यह आवाज़ ही इनकी नहीं। हाँ पापरूप दुःसाध्य रोगों की दवा थोड़ी कीमत में दे इनने अवश्य हमारा इलाज किया है, हमें बचा लिया है; पर इससे भी यह नहीं कहा जा सकता कि ये पापों को प्रोत्साहन दे रहे हैं। यदि वेद ने वरुण की पूजा को भयङ्कर पापों का नाशक बतलाया, गुरुतल्पगादि की भी विशुद्धि बतलायी, तो क्या इसका मतलब होगा कि वह पापों का प्रोत्साहन दे रहा है ?—

अकार्यकार्यवकीर्णीस्तेनो भ्रूणहा गुरुतल्पगः। वरुणोऽपामघमर्षणस्तस्मात् पापात्प्रमुच्यते। (तै० आ०)

सत्यनाराण व्रत कथा बङ्गाल की देन नहीं

इसके बाद का आक्षेप टिप्पणी में है। वहाँ कहा गया है कि यह कथा बङ्गाल के किसी सत्यपीर ने बनायी है। "रत्नसारपुरे रम्ये" "गत्वा सिन्धुसमीपं" "अभावे शालिचूर्णं वा" इत्यादि वाक्य इसके बङ्गीय उद्भव के अन्तःसाक्ष्य दे रहे हैं। अतएव इसे स्कन्दपुराण के किसी संस्करण में स्थान न मिल सका है।

रत्नसारपुर जैसा गाँवों का नाम, सिन्धु की स्थिति एवं शालि की प्रचुरता बङ्गाल में ही होती है; इन सबों का उल्लेख सत्यनारायण व्रत कथा में है, अतः यह बङ्गाल की ही देन है; यह आपका अनुमान है। पर मैं कहूँगा कि विचार का यह प्रकार, जो पाश्चात्यों की देन है, सर्वथा अपूर्ण एवं भयावह है। शास्त्र के शब्द में इस हेतु को हेतु नहीं, हेत्वाभास कहा जाता है। हेत्वाभास से अनुमान ग़लत माना जाता है। जिस हेतु से उसे बङ्गाल की देन कहेंगे, कोई दूसरा व्यक्ति उसी हेतु से इसे मद्रास की देन कह सकता है; क्योंकि मद्रास में भी वैसे गाँवों के नाम होते हैं, वहाँ भी सिन्धु है, शालि भी होता है?

सत्य की खोज में ऐसे अटकलपच्चू विचारों का मोह हमें छोड़ ही देना चाहिये। नहीं तो राक्षस राम हो जायगा और राम राक्षस साबित किये जा सकेंगे। तब तो हमें एक अंग्रेज सज्जन का वह मत भी मान लेना पड़ेगा कि 'वेद चीन में बना है?' क्योंकि वेदों में जो 'सप्तसिन्धु' शब्द आया है, वह उसके चीन में उद्भव का अन्तःसाक्ष्य दे ही रहा है! अथवा कोई पारखी सज्जन सत्यनारायण व्रत में आये शालि-प्रशंसन को तैत्तरीय ब्राह्मण* में भी देखकर यह दावा कर सकते हैं कि वेद भी बङ्गाल

* "तद्वै देवानां परमन्नम्" (तै० ब्रा० १, ३, ३)। "शालिमुद्गादिकं परमान्नं···" ऐसा सायण ने लिखा है जिसका अर्थ है कि शालि उत्तम अन्न है।"

को ही देन है और उसे किसी बङ्गाली ने ही बनाया है। कोई सज्जन एक क़दम और आगे बढ़कर कह सकते हैं कि वेद न तो चीन में बना और न बङ्गाल में, वह तो दस्युओं के घर पर बना है, क्योंकि वेद में उनका खासा जिक्र है।

दूसरी बात यह है कि सत्यनारायण व्रत कथा में जिस तरह 'रत्नसार-पुर' नामक गाँव का एवं 'सिन्धु' का जिक्र है, उसी तरह वहाँ काशी एवं नर्मदा का भी तो जिक्र है; तब तो यहाँ यह भी प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि यह काशी में अथवा नर्मदातट पर बना ! अतः पाश्चात्य शैली के बहिरङ्ग-परीक्षण का त्याग ही उचित है।

रह गयी दूसरी बात, दूसरा हेतु कि इसीलिए इसे स्कन्दपुराण के किसी संस्करण में स्थान न मिला। यह हेतु भी हेत्वाभास है, क्योंकि कलकत्ते के स्कन्दपुराण के रेवाखण्ड में २३३वें अध्याय से लेकर २३६वें अध्याय तक यह कथा छप चुकी है। 'वाचस्पत्य' से पता चलता है कि करीब सौ वर्ष पहले भी इस कथा को स्कन्दपुराण में जगह मिली थी—

"सत्यनारायण (पुं० कर्म०) संक्रान्त्यादिषु पूज्ये नारा-यणमूर्तिभेदे स्क० पु० रेवा० ४ अ० तत्कथा दृश्या।"

यह कथा स्कन्दपुराण के अतिरिक्त भविष्यपुराण के प्रतिसर्गपर्व में भी (चौबीसवें अध्याय से लेकर उन्तीसवें अध्याय तक) उपलब्ध है; प्रायः सभी संस्करणों में। अतः केवल इसी नाजुक आधार पर इसकी अर्वाचीनता का समर्थन ठीक नहीं। निरुक्त में ऐसे बहुत से मन्त्र आये हैं, जो आज भी वेद के किसी संस्करण में नहीं मिले; तो क्या इसी एक आधार पर कहेंगे कि वे मन्त्र अर्वाचीन हैं, अतएव उन्हें किसी संस्करण में जगह नहीं मिली ?

'हमारा चक्षुष्मान् विश्वास'

जनता में अन्धविश्वास के प्राबल्य दिखलाने के अवसर पर आपने लिखा है कि "श्लोक (अनुष्टुप् छन्द) की आड़ में चाहे जो कर जाइये,

उसमें तर्क दीजिये या कुछ भी न दीजिये, झट मान लिया जावेगा। इसलिये कि वह श्लोक है, संस्कृत-भाषा में है।" इस सम्बन्ध में आपने उदाहरण दिया है कि आपके किसी मित्र ने किसी अनपढ़ पण्डित से उपहास किया—**"पादत्राणविहीनानां का गतिः स्याज्जनार्दन! नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम।"** बस, पण्डितजी फेर में पड़ गये। इसी तरह **"अहल्या द्रौपदी तारा कुन्ती मन्दोदरी तथा, पञ्चकन्याः स्मरेन्नित्यं महापातकनाशकम्।"** यह श्लोक भी किसी ने दिल्लगी में ही रचा होगा। पर अन्धी दुनिया ने इसे धर्म का अङ्ग बना लिया।"

इस सम्बन्ध में मेरा वक्तव्य यह है कि आस्तिक जनता श्रुतिहीन और तर्कविरहित बातों को मानने के लिये कभी तैयार नहीं। भले ही वह श्लोकबद्ध हो और संस्कृत में हो। चार्वाक के सैकड़ों संस्कृत के श्लोक आज विश्व-विश्रुत हैं, पर श्लोक होने के नाते क्या आस्तिक जनता उन्हें मानती है?

यह ठीक है कि हम श्लोकों को प्रमाण मानते हैं। क्योंकि श्रुति-स्मृतियों ने हमारे लिये यही आदेश दिया है—**"ऋग्वेदो यजुर्वेदो"... श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि।"** (**शतपथ**) इसी बात को याज्ञवल्क्य कहते हैं—**"श्लोकाः सूत्राणि भाष्याणि"......**(**याज्ञवल्क्य स्मृ० ३, ४ १८९**)। अतः श्लोक को हम अवश्य मानते हैं, पर उन्हीं को, जो भगवान् के निःश्वसित हैं या तन्मूलक हैं। 'पादत्राणविहीनानां' जैसे श्लोक को आस्तिक जनता क्यों प्रमाण मानेगी, जो मनगढ़न्त है और जिसमें परिहास का पुट है? किसी अनाकर्षक व्यक्ति के दृष्टान्त से कोई ख़ास फैसला नहीं हो सकता। यदि उन बूढ़े ब्राह्मण के दृष्टान्त से अन्धविश्वास को क़ायम किया जा सकता है, तब इसी दृष्टान्त से यह भी मान लेना पड़ेगा कि 'परिहास आज मर चुका, अब उसके कोई जानकार न रहे'—

**"परिहास मर चुका अब ज़िन्दा न होगा यारो,
याद कर करके उसे दिल न दुखाना हरगिज़।"**

अहिल्या, द्रौपदी, तारा वाले श्लोक का मूल क्या है

'अहिल्या द्रौपदी तारा' वाला श्लोक 'आचारेन्दु' आदि संग्रहग्रन्थों में उपलब्ध है। इस श्लोक के आविर्भाव की भूमि उपहास नहीं, अपितु उपहास का निरास है। धर्म की सूक्ष्मता का एक अगाध रहस्य इसमें छिपा है। ये देवियाँ बड़ी उन्नत हैं, सीता, सावित्री के समकक्ष हैं। पर इन्हें धर्म की उन तंग गलियों से गुजरना पड़ा है, जिनसे सभी परिचित नहीं। इस हालत में यदि लोग इन्हें सन्देह की दृष्टि से देखें और इनके विद्रोही बन बैठें तो आश्चर्य नहीं। और तब इसमें भी आश्चर्य नहीं कि तब इनका भविष्याकाश बिल्कुल धूमिल हो उठेगा। अतः इनके हित के लिए शास्त्रों ने खुले शब्दों में सावधान कर दिया है कि ये पवित्र हैं, सन्देह मत करना। ये इतनी पवित्र हैं कि इनका स्मरण तुम्हारा मधु-मादक पाथेय बन जायगा ? इनकी पवित्रता के रहस्य को शास्त्रों ने विशद रूप से समझाया भी है। यहाँ स्थाली-पुलाक न्याय का आश्रयण कर एक दो का विवेचन किया जाता है।

द्रौपदी के पाँच पति का रहस्य

द्रौपदी के पाँच पति के रहस्य में जब हमारी बुद्धि नहीं पैठती, तो आश्चर्य नहीं। क्योंकि द्रुपद की बुद्धि भी यहाँ तक न पहुँच सकी थी। युधिष्ठिर ने इस तत्व को समझ तो लिया, पर समझा न सकते थे। व्यास जी से दिव्य-दृष्टि पाकर ही द्रुपद ने पाँचों के एक इन्द्र-रूप को परखा। जैमिनि मुनि को भी इस सन्देह ने परेशान किया था। उन्हें जिन शब्दों से समाधान मिला, बहुत सम्भव है, उनसे हमारा भी समाधान हो जाय।

अहल्याकाण्ड के बाद गौतम के शाप से इन्द्र का प्रभुत्व जाता रहा। उनके धर्म, बल और रूप के अंश अपने-अपने अंशी में जा मिले। धर्म

का अंशी धर्मराज, बल का वायु और रूप का अश्विद्वय हैं। धर्मराज ने कुन्ती को वरदान दे, इन्द्र के उसी धर्मांश से युधिष्ठिर को प्रकट किया। इसी तरह पवन ने इन्द्र के उसी बलांश से भीम को तथा अश्विनीकुमारों ने इन्द्र के उसी रूपांश से नकुल, सहदेव को प्रकट किया। अर्जुन तो खास इन्द्र के अवतार ही थे। इसीलिये 'इन्द्र का जो एक गुह्य नाम 'अर्जुन' है—**"एतद्वा गुह्यनाम यदर्जुनः"** (वाजसनेय) वही उनका नाम (अर्जुन) पड़ा। इस तरह पता चलता है कि अकेले इन्द्र ही कुन्ती और माद्री के गर्भ से पाँच भागों में विभक्त होकर प्रकट हुए। श्रीकृष्ण ने रासलीला आदि अवसरों पर अपने को अनेक रूप में उपस्थित किया था। उनकी इस अनेकता में भी एकता थी, उन्हें अनेक न माना गया। इसी तरह 'महाभाग्याद् देवतायाः' के नियम से एक ही इन्द्र की पांडव-रूप में पाँच अभिव्यक्तियाँ थीं। मार्कण्डेय पुराण में लिखा है—

यदिन्द्रं देहजं तेजस्तन्मुमोच स्वयं वृषः, कुन्त्यां जातो महातेजास्ततो राजा युधिष्ठिरः ॥ बलं मुमोच पवनस्ततो भीमो व्यजायत, शक्रवीर्याद्धतश्चैव जज्ञे पार्थो धनञ्जयः ॥ उत्पन्नौ यमजौ माद्र्यां शक्ररूपी महाद्युती, पञ्चधा भगवान्नित्यमवतीर्णः शतक्रतुः ॥ तस्योत्पन्ना महाभागा पत्नी कृष्णा हुताशनात्, शक्रस्यैकस्य सा पत्नी कृष्णा नान्यस्य कस्यचित् ॥ योगीश्वराः शरीराणि कुर्वन्ति बहुलान्यपि, पञ्चानामेकपत्नीत्वमित्येतत्कथितन्तव ॥ मार्कण्डेय अ० ५, २१, २६। स्वयं द्रौपदी भी इन्द्र की ही पत्नी थीं। इस तरह पता चलता है कि द्रौपदी के एक ही पति थे। और यह उन पर बिल्कुल अनुरक्त थीं, पूरी पूरी पतिव्रता थीं।

कुन्ती के पातिव्रत का रहस्य

इसी तरह कुन्ती भी पतिव्रता थीं। पाण्डवों की उत्पत्ति उन-उन

देवताओं के वरदान से हुई है, वहाँ व्यभिचार का गन्ध नहीं। महाभारत ने इन बातों को बिल्कुल खुले शब्दों में लिखा है—

कृष्णद्वैपायनाच्चैव प्रसूतिर्वरदानजा
धृतराष्ट्रस्य पाण्डोश्च पाण्डवानाञ्च सम्भवः।
(आदिपर्व २, १००)

भगवान् ने कण्ठरव से कहा—"**न मैथुनेन सम्भूता निष्पापाः पाण्डवाः स्मृताः।**" इस तरह साधारण दृष्टि से द्रौपदी और कुन्ती आदि पर आवाजें कसी जाती हैं, पर गहराई में उतरने पर पता चलता है कि वे परम पवित्र नारी थीं। उनकी दिव्यता के कारण स्मरण करनेवालों के महापातक का नाश अवश्य सम्भव है।

'काकमैथुन दर्शन शान्ति का वैदिक-आधार'

वेदों में शकुनादि की चर्चा है। अथर्ववेद में इसका विशद विवेचन है। जिससे इस तत्व पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यहाँ ऋग्वेद के कपोत सूक्त का एक मन्त्र उद्धृत करता हूँ। इसमें कबूतर का घर पर बैठना अशुभ माना गया है, वह अपने जन्मान्तरकृत पापों के परिपाक का द्योतक है और देवताओं से प्रार्थना की गयी है कि वे उसे दूर कर दें—
"देवा कपोत इषितो यदिच्छन् दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम। तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृतिं शन्नो अस्तु द्विपदे चतुष्पदे" (ऋग्वेद ८, ८, २३, १)

काकमैथुन दर्शन के लिये भी यही बात लागू है। कपोत-गृह-निलयन जिस तरह हमारे पापों के परिपाक का परिचायक है, आनेवाली कृच्छ्रापत्ति का सन्देशवाहक है, उसी तरह काक-मैथुन दर्शन भी। उसकी शान्ति की तरह इसकी शान्ति भी आवश्यक है। यह ऋषियों का अनुभव है, अतः इसके समझने के लिये धीरता की आवश्यकता है।

वेद में काकाभिधान-जन्य दोष और उसकी निवृत्ति का स्पष्ट उल्लेख है—

इदं यत्कृष्णः शकुनिः अभिनिष्पतन् अपीपतत् आपो म तस्मात् सर्वस्माद् दुरितात् पांतु अंधसः (अथर्ववेद)

"हमारी उपासना का आदि स्रोत वेद ही है"

पूजा-पाठ के सम्बन्ध में अराजकता का उल्लेख करते हुए आपने लिखा "हमारे धर्म का मूल जब वेद है तो फिर उसी में से सारी उपासना निकलनी चाहिये। जो अच्छे लोग अपने पुण्यों के प्रताप से स्वर्गलोक को प्राप्त करते हैं वे वहाँ के सुखों का अनुभव करते हैं, अधिकारों का नहीं। कुछ पुण्यात्मा तपस्वी स्वर्गलोक से भी ऊपर जाते हैं। इन सबको कर्मदेव कहते हैं। इनकी पूजा नहीं की जाती। पूजा होती है आजान देवों की, उन लोगों की जो अपने तप के प्रभाव से 'इन्द्र, वायु, अग्नि आदि पदों पर पहुँचते हैं और एक निश्चित काल तक तत्तत्पदों पर रहकर यथाधिकार जगत् का शासन करते हैं"।

कर्मदेवों की पूजा का आदेशक वेद है

इस उद्धरण से पता चलता है कि कर्मदेवों की पूजा आप को स्वीकार नहीं। किन्तु, यह मन्तव्य कभी वेदानुमोदित नहीं। ऋग्वेद में एक मन्त्र आया है—

'विष्ट्वी शमी तरणित्वेन बाधतो मर्त्तासः सन्तोऽमृतत्व मानशुः। सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षसः संवत्सरे समपृच्यन्त धीतिभिः। (१, ११०, ४)

इससे पता चलता है कि ऋभु ऋषि मनुष्यों से देवता बने और उन्हें हवि भी दिया गया। अब विचारना यह है कि ऋभु ऋषि कर्मदेव की कोटि के थे या और किसी कोटि के? आजान देव तो हो नहीं सकते, क्योंकि

आजान देव तो वे होते हैं 'जो सृष्ट्यन्तर में किये गये कर्मों के अनुरोध से तदनन्तर भावि सृष्टि के प्रारम्भ में जन्म से ही देव बनते हैं— 'तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजान मग्रे' (यजु०)। इसी आशय को लेकर शंकराचार्य्य ने भी लिखा है—'उत्पत्तित एवा ये देवास्त आजान-देवाः।'' विष्ट्वी शमीत्यादि ऋचा से यह पता चलता है कि ऋभु जन्मतः देव नहीं अपितु मर्त्य से देव बने। और दूसरी बात यह है कि ऋग्वेद में ऋभु की पिछली सन्ततियों की स्तुति मिलती है, अतः यह भी नहीं कहा जा सकता कि सृष्टि के प्रारम्भ में ही ऋभु ऋषि देवता बने। आजानदेव का एक भी लक्षण इनमें न घटा। बस, ये कर्मदेव ही रहे। शंकराचार्य्य ने लिखा कि जो श्रौत कर्मानुष्ठान से देवता बनते हैं, वे कर्म-देव होते हैं—'कर्मदेवा ये वैदिकेन कर्मणाग्निहोत्रादिना केवलेन देवानपियन्ति।' विष्ट्वी शमी मन्त्र से स्पष्ट है कि भृगु श्रौतकर्मों के अनुष्ठान से देवता हुए थे। अतः कर्मदेव कोटि में उनका अन्तर्भाव है।

इस प्रकार इनका कर्मदेव होना सिद्ध हुआ और इनकी पूजा भी की गयी है। इन के हवि-भोजी होने के प्रत्यायक कुछ स्पष्ट मन्त्रों को भी दे देता हूँ—

(क) अभजन्त भागं देवेसु यज्ञियम्। ऋग्। १, २०, ८

(ख) सौधन्वना यज्ञियं भाग मानश। ऋग्, ३, ६०

(ग) ऋभवो वै देवेषु तपसा सोमपीथमभ्यजन। ऐतरेय ३,३०

(घ) सं वो मदासो अग्मतेन्द्रेण च मरुत्वता आदित्येभिश्च राजभिः'' (ऋग्० १, २०, ५)

वेदोक्त देवसंख्या से पुराणोक्त देवसंख्या में भेद नहीं है

''इसी प्रसङ्ग में आपने लिखा है—'' इनकी (आजानदेवों की) संख्या वेद में निर्दिष्ट है और वहीं इनके नाम भी मिलते हैं। अतः इस संख्या में वृद्धि होने का अर्थ यह हुआ कि वेद धर्म के विषय में प्रमाण

नहीं है अर्थात् ईश्वरवाक्य नहीं है। पर यह तो कोई हिन्दू अपने मुँह से कह नहीं सकता, अतः कोई हिन्दू वेदोक्त संख्या में नये देवों को जोड़ नहीं सकता।"

मेरी समझ से 'निर्दिष्ट संख्या' से आपका मतलब तैंतीस से है। ऋग्वेद ने **"त्रिशतं त्रींश्च देवान्"** (३, ६, ९), **"ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो बर्हिरासदन्"** (८, २८, १), यजुर्वेदने **"त्रयस्त्रिंशाः सुराधसाः"** (२०, १७) और श्री शङ्कराचार्य ने आजान-देवों के लिए **"त्रयस्त्रिंशद्धविर्भुजः"** लिखकर तैंतीस देवों को माना है; वे देव हैं—आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, इन्द्र और प्रजापति (श० ब्रा० ११, ६, ३, ५) इस तरह तैंतीस देव हैं, यह कहना तो ठीक ही है; किन्तु देवों की कुल संख्या तैंतीस ही है यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि स्वयं वेद ने खुले शब्दों में देवताओं की संख्या ३३३९ कही है— **"त्रीणि शता त्रीणि सहस्राणि अग्निं त्रिंशच्चदेवा नव च असपर्यन्"** (**यजु० ३३, ७**) यह मन्त्र तैत्तिरीय ब्राह्मण के दूसरे काण्ड के सातवें प्रपाठक के तेरहवें अनुवाक में भी उपलब्ध है। भाष्यकार महीधर ने आगमों का आश्रयण कर इस मन्त्र के अर्थान्तर से देवताओं की संख्या तैंतीस करोड़ लिखी है। अतः पद्मपुराणादि में जो देवताओं को तैंतीस करोड़ कहा गया है, वह भी निर्मूल नहीं।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब देवताओं की संख्या तैंतीस करोड़ है, तब उपर्युक्त वेद और शङ्कराचार्य की यह उक्ति कि देवता तैंतीस हैं कैसे संगत होती है? बात यह है कि देवताओं की यह तैंतीस-संख्या परिगणनमूलक नहीं अपितु अन्तर्भाव की दृष्टि से है। गौतम ने सोलह पदार्थ लिखे हैं, पर वैशेषिक ने उन सोलहों को छ में अन्तर्भाव कर उन्हें छ ही कहा है। विस्तार की दृष्टि से पदार्थ को सोलह कहा जा सकता है और अन्तर्भाव की दृष्टि से छ भी; इसमें कोई विरोध नहीं है। इसी तरह विस्तार की दृष्टि से देवताओं को तैंतीस-करोड़ भी कहा जा सकता

है और अन्तर्भाव की दृष्टि से तैंतीस या इससे भी कम। स्वयं वेद एवं शङ्कराचार्य ने इसका खुलासा कर दिया है। उनका आशय है कि अन्तर्भाव की दृष्टि से देवताओं को तैंतीस कहा जा सकता है। इन तैंतीस देवताओं का अन्तर्भाव अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, इन छ[१] देवों में हो जाता है, अतः देवता छ हैं' ऐसा कहा जा सकता है। इन छ देवों को अग्नि, वायु, सूर्य, इन तीन[२] देवों में अन्तर्भाव कर हम देवों को तीन भी कह सकते हैं। इसी तरह इन तीनों को अन्न और प्राण इन[३] दो देवों में एवं इन दोनों को एक हिरण्यगर्भ[४] में अन्तर्भाव कर हम देवताओं को दो या एक भी कह सकते हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि हम देवता को एक, दो, तीन, छ, तैंतीस, छियासठ एवं तैंतीस करोड़, सब कह सकते हैं; इसमें न तो कोई विप्रतिपत्ति है न तो विरोध—**कति देवाः 'इत्युपक्रम्य, 'त्रय स्त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्राः' इति निरुच्य 'कतमेते ? इत्यस्यां पृच्छायां 'महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्वेव देवाः' इति ब्रुवती श्रुतिरेकैकस्य देवतात्मनो ऽनेकरूपतां दर्शयति। तदा**

१—तीन देवता और तीन लोक छ देवता में उपात्त हैं—"**कतमे षडिति अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं च आदित्यश्च द्यौचेति षट्**" (श० ब्रा० १४, ६, ९, ८)

२—ऋग्वेद ने लिखा है—'**सूर्यो नो दिवस्पातु वातो अन्तरिक्षात्। अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः।** दुर्गाचार्य ने लिखा है कि नैरुक्तों के मत से अग्नि, इन्द्र और सूर्य ये तीन देवता गृहीत होते हैं।

(३) कहीं कहीं इन दोनों को अग्नि-सोम, प्राण-रयि, अन्नाद-अन्न और दिव्य-मनुष्य शब्दों से कहा गया है।

(४) शतपथ ब्राह्मण में एक देव को प्राण शब्द से कहा गया है—"**कतमोएको देव इति ? प्राण इति**" (श० ब्रा० ११, ६, ३, १०)

त्रयस्त्रिंशतोऽपि षडन्तर्भावक्रमेण 'कतमो एको देव इति प्राण इति प्राणैकरूपतां देवानां दर्शयन्ती तस्यैवैकस्य प्राणस्य युगपदनेकरूपतां दर्शयति" (शारीरकभाष्य)

अब यह निर्णीत हो गया कि वेदोक्त संख्या में कुछ भी हेर-फेर न किया गया। फिर भी आपने यह दिखलाया है कि गणेश, हनुमान्, भैरव, सर्प और शीतला को देवसूची में पीछे से घुसेड़ा गया है।

हनुमान और भैरव

गणेश जी की वैदिकता पहिले सिद्ध हो चुकी है। हनुमान् और भैरव रुद्र के अवतार हैं, ऐसा शिवपुराण में लिखा है, अतः रुद्ररूप ही हुए। परमात्मा ने जो यक्षावतार लिया यह उनसे भिन्न न माना गया—सा **ब्रह्मेति होवाच** । निरुक्त के **'यद्यद्रूपं कामयते तत्तद्देवता भवति, महाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते, एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति'** इन विधानों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हनुमान और भैरव रुद्र की ही अभिव्यक्तियाँ हैं, एक रुद्र ही हनुमान और भैरव के रूप में स्तुत होते हैं और ये दोनों रुद्र के ही प्रत्यङ्ग हैं, महिमा हैं। जैसे तैंतीस देवताओं की तैंतीस करोड़ की महिमा से देवसूची न बिगड़ी, उसी तरह रुद्रावतार हनुमान एवं भैरव से वह बिगड़ी नहीं कही जा सकती। निरुक्त के ही शब्दों में कात्यायन ने अपना भी शब्द मिलाया है—**'एकैव महानात्मा देवता' तद्विभूतयोऽन्याः देवताः (सर्वानुक्रमणी १७-१८)**। 'शिव रहस्य' में भी भैरव जी को रुद्र की अभिव्यक्ति माना है—**"तदोग्ररूपादनघान्मत्तः श्रीकालभैरवः। आविरासीत्तदा लोकान् भीषयन्नखिलानपि।"** अतः भैरव को रुद्ररूप ही माना जाता है। इसीलिए भैरव के व्रतादिक में वही नियम लागू होते हैं, जो रुद्र के—**'रुद्रव्रतेषु सर्वेषु कर्त्तव्यासंमुखी तिथिः।' (ब्रह्मवैवर्त)** ऋग्वेद में एक मन्त्र आया है—**आ तून इन्द्र कौशिक मन्दसानः सुतं पिब'** ।

यहाँ कौशिक शब्द इन्द्र के लिये आया है। कुशिक की तपश्चर्या की सार्थकता के लिये इन्द्र ने उसके यहाँ अवतार लिया था, अतः इन्द्र को कौशिक कहा जाता है। इन्द्र के इस अवतारी नाम पर जैसे हवि दिया गया उसी तरह हनुमान और भैरव के नाम पर भी हवि दिया जा सकता है। जब इन्द्र के कौशिकावतार से देवसूची न बढ़ी, तब हनुमान और भैरव से वह कैसे बढ़ जायगी ? यहाँ यह बात स्मरणीय है कि अवतारों के बहुविधता के कारण उनके पूजन-तारतम्य में अन्तर आ जाता है। अतः अवतारों की पूजा में भी शास्त्रों का आदेश अवश्य अपेक्षित रहता है।

शीतला

वेद ने प्रत्येक अधिभूत में अधिदैव की सत्ता स्वीकार की है। अतएव यजुर्वेद में २२ वें अध्याय की २४ वीं कण्डिका से लेकर ३४ वीं कण्डिका तक प्रत्येक दिशा, जलविशेष, अहोरात्र, पुष्प, फल, मूल, वनस्पति, औषधि, चराचर, सरीसृप, मास, लोक आदि जड़प्राय वस्तुओं को आधिदैविक दृष्टि से हवि दिया गया है। शीतला भी रोग की अधिष्ठात्री देवी हैं। यजुर्वेद में उपर्युक्त सभी देवताओं को स्वाहा पढ़कर आहुतियाँ भी दी गयी हैं अतः निर्णीत होता है कि अधिष्ठात्री देवियाँ वैदिक ही मानी जाती हैं। पर इसके साथ-साथ मैं यहाँ यह भी स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि किसी की पूजा में शास्त्र ही प्रमाण है। अधिष्ठात्रियों में भी उन्हीं की पूजा होती है जिनके लिए शास्त्र का आदेश है। शीतला की अधिष्ठातृत्वेन पूजा का आदेशक शास्त्र है, अतः उनकी पूजा होती है; पर प्लेग की अधिष्ठात्री की पूजा शास्त्र नहीं बतलाता, अतः उनकी पूजा नहीं होती।

प्लेग से बहुत पीड़ित होने पर भी प्लेग की पूजा की ओर हमारा ध्यान भी नहीं जाता, किन्तु अवसर पर हम ब्रह्महत्या तक को हवि दे डालते हैं (**शुक्ल यजुः ११।१३**), इससे क्या यह नहीं प्रमाणित होता कि हमारी उपासना और उपास्यों का मापदण्ड ठीक-ठीक हमारा शास्त्र

ही है ? अतः कभी भी हमारे यहाँ उपास्यों की अराजकता नहीं आ
और न देवसूची में रद्दोबदल ही कभी करना पड़ता है ।

सर्प

सर्पों की पूजा का ज़ोरदार समर्थन वेद करता है ; वेद ही इस पू
का उद्गम स्थल है । यजुर्वेद में एक मन्त्र है—**"ये वाऽवटेषु शे
तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः"** (१३,७) । शतपथ में आया—**"य एवैषु त्रि
लोकेषु सर्पास्तेभ्य एवा नमस्करोमि ।"** इसी अर्थ को शब्दा
से हम यजुर्वेद में पाते हैं—**"नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवी
मनु । येऽन्तरिक्षेभ्य दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ।"** (१३,७
ऋग्वेद के खिलभाग में सर्पविशेषों की भी नति की गयी है । परन्तु
सभी मन्त्र अध्यात्म-दृष्टि से मान लिये जाँय, तो सर्पों की पूज्यता
समर्थन इनसे नहीं हो सकता । क्योंकि अध्यात्म दृष्टि से तो जिस कि
का नमन किया जा सकता है । श्री सम्पूर्णानन्दजी ने इन मन्त्रों को इ
दृष्टि से देख सर्पों की पूज्यता का खण्डन कर दिया है । आपने लिखा—
"वेदों में तो आया है—'नमो वाणिजाय', 'नमः स्तेनानां पतये,' 'नम
तस्कराणां पतये,' 'नमस्तक्षभ्यः,' 'नमः श्वभ्यः' । इससे यह सिद्ध हु
वेद कहता है कि बनियों की, चोरों की, बढ़इयों की और कुत्तों की पू
किया करो ।" पृष्ठ ४२ ।

निवेदन यह है कि 'नमः श्वभ्यः' की तरह सर्पों से सम्बन्ध रख
वाले उपर्युक्त मन्त्र भी केवल अध्यात्म-दृष्टिमूलक नहीं हैं ; उन्हें अधिदै
दृष्टिमूलकता भी प्राप्त है । तभी अश्वमेध यज्ञ में सर्पों के लिये अश्व
अङ्गविशेष की आहुति का विधान है—**"अन्धाहीन् स्थूलगुद
सर्पान् गुदाभिः ।"** (यजुः० २५,७) 'स्तेनानां पतये' का अधिदेव
असिद्ध है अतः चोरादिकों की पूजा नहीं होती ; पर सर्पों का देवत्व
सिद्ध है ?

सर्पों की पूजा तो विश्व-व्यापिनी है । पुराणों में नागों के दिव्य-

का वर्णन मिलता है। दश दिक्पालों में इनकी गणना है। सभी जातियों में इनकी पूजा प्रचलित है। बौद्धजातक में लिखा है कि बुद्ध की रक्षा नागराज करते हैं। मिस्र के देवताओं में इनका प्रमुख स्थान है।

उपास्यों के बाहुल्य के सम्बन्ध में आपने लिखा—"तैंतीस कोटि से तैंतीस करोड़ होने से यह अनर्थ हुआ है। इन सब के कोई नाम तो जानता है नहीं, कोई भी नया नाम जोड़ा जा सकता है। यह कौन कह सकता है कि, तैंतीस करोड़ में यह नहीं है ?···यदि हनुमानजी की पूजा हो सकती है तो हमारे गाँव के रहनेवाले खदेरू बाबा की क्यों नहीं हो सकती, जो अपने जीवनकाल में झाड़-फूँक से गाँववालों का बड़ा उपकार करते थे ? यह कैसे जाना जाय कि इस सूची में हसन-हुसैन या गाजी-मियाँ का नाम नहीं ?"...फिर पृष्ठ ४२ में "किस कसौटी पर यह बात जाँची जायगी कि ईसा या मुहम्मद, हसन-हुसैन या गाजीमियाँ तैंतीस करोड़ के बाहर हैं ? इनके इतिवृत्तों को पढ़कर इनको भी अग्नि आदि का भेद सिद्ध किया जा सकता है। ईसाई और इस्लाम धर्मों के अनुसार सभी फरिस्ते तैजस शरीरधारी हैं। तो फिर क्या उचित होगा कि "अग्नये स्वाहा" की जगह, या साथ-साथ, "जिब्राईलाय स्वाहा" पढ़कर आहुति दी जाय ?"

हमारे पास वह मापदण्ड है जिससे देव सूची में कोई कभी नहीं घुस सकता

तैंतीस करोड़ देवता हैं, यह तो ठीक ही है और यह भी ठीक है कि इनकी पूरी नामावली से हमें जानकारी नहीं। किन्तु हमारे पास एक ऐसा अचूक मापदण्ड है, जिससे हम आसानी से जान सकते हैं कि इस देव-सूची में यह व्यक्ति है या नहीं। हमारा वह मापदण्ड है—शब्द-प्रमाण, शास्त्र !—

शब्दप्रमाणका वयम्। यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्
(महाभाष्य)

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ (गीता)

शास्त्र ही वह कसौटी है, जिससे देवताओं की परख होती है। इस कसौटी में जिन देवताओं के नाम की रेखा खिंची होती है, वही हमारे देवता होते हैं। इस कसौटी में कभी भी ईसा, हसन-हुसैन, गाजीमियाँ के नाम की लकीर नहीं है। अतः वे ३३ करोड़ के बाहर हैं। उनकी बला हम पर नहीं।

किसी के कोरे उपकार या चमत्कार से ही हम उसे देवत्व की डिग्री नहीं दे देते। यदि ऐसा होता तो खदेरू बाबा या फरिस्ते का सवाल हम पर लादा जा सकता था। परन्तु हमने अपने उपास्यों का चुनाव तो शास्त्रों के हाथों में दे डाला है। बुद्धदेव को हम भगवान् का अवतार मानते हैं, परन्तु हममें उनकी पूजा नहीं प्रचलित है, वह इस लिये कि शास्त्र इस सम्बन्ध में चुप है। जब हमें अपनी कसौटी पर इतना भरोसा है कि बुद्धदेव के लिये भी 'बुद्धदेवाय स्वाहा' पढ़कर आहुति नहीं देते, तब 'जिब्राईलाय स्वाहा,' की बला हम पर कैसे लद सकती है ?

इन पंक्तियों से यह आया कि देवताओं की तैंतीस करोड़ की संख्या ने कुछ अनर्थ न खड़ा किया है, इससे कोई अनवस्था न आयी है। अब युक्ति की दृष्टि से एक बात और कह देनी है।

मर्दुमशुमारी की वजह से हमको यह तो मालूम है कि हिन्दुओं की संख्या २५ करोड़ है; किन्तु हममें से किसी एक को भी इनकी नामावली ज्ञात नहीं। इस हालत में यदि कोई हम पर हावी हो जाय कि तुम हसन-हुसैन को हिन्दू मान ही लो, तो क्या हम उसे हिन्दू मान लेंगे; केवल इसी दलील के बल पर कि २५ करोड़ की क्रमबद्ध नामावली हमें कण्ठ नहीं ?

नामावली न जानने पर भी हसन-हुसैन को जो हिन्दू न माना गया, वह इसलिए कि प्रत्यक्ष प्रणाम इसके प्रतिकूल है। इस तरह जब हम हसन-हुसैन को हिन्दू भी मानने को तैयार नहीं, तब उसे देवता क्यों

मान लिया जाय, जब कि प्रत्यक्ष और आगम में दो-दो प्रमाण उसके विसम्वादी बन उपस्थित हैं ?

उपास्य देवों के बाहुल्य की उपादेयता

आपने कई जगह यह ज़िक्र किया है कि उपास्यों की बहुलता से हिन्दू जाति बुरी तरह विपन्न हुई है। मैं इस सम्बन्ध में कुछ विचार कर लेना चाहता हूँ।

रुचि-वैचित्र्य की दृष्टि से उपास्यों का बाहुल्य अत्यन्त अपेक्षित है। विभिन्न रोगों के लिये विभिन्न औषधियों की जिस तरह अबाधित आवश्यकता है, उसी तरह विभिन्न रुचिवालों के लिये विभिन्न देवताओं की।

कोई कृष्ण की बाँकी अदा पर फ़िदा हो सकता है तो दूसरे के लिये उधर कोई रस ही नहीं मिलता; उसके लिये तो बस रुण्ड-मुण्ड-धारिणी श्मशानवासिनी कराली काली ही सब कुछ हैं! यदि भगवान की काली के रूप में अभिव्यक्ति न होती, तो ऐसे रुचिवालों के लिये आध्यात्मिक दरवाजा बन्द ही रहता। खाँसी के लिये मीठी दवा हो सकती है पर मलेरिया के लिये कड़वी दवा की भी तो आवश्यकता है ?

कुछ निदर्शन

सन्त तुकाराम की रुचि विट्ठल (गोपाल) पर थी। राम, कृष्ण, हरि नाम ही उन्हें रुचता था। इनके गुरुदेव ने स्वप्न में इन्हें इन्हीं नामों और इन्हीं देवता की उपासना की दीक्षा दी। इस पर तुकाराम जैसे अद्वैत-दर्शी ने भी बड़ा सन्तोष प्रकट किया। उन्होंने कहा है—"गुरु ने मुझे कृपासागर पाण्डुरङ्ग ही जहाज़ दिया", "गुरुदेव ने मुझे वही सरल मन्त्र बतलाया जो मुझे अति प्रिय था जिसमें कोई बखेड़ा नहीं।" रुचि के विपरीत देवता की उपासना से तुकाराम जैसे सन्त भी जब घबड़ाते हैं, तब नवसिखों की बात ही क्या पूछनी ? अतः रुचि के अनुकूल देवता

का आश्रयण ही कल्याणकर है; नहीं तो, सन्त तुकाराम के शब्दों में बखेड़ा करना पड़ता है।

रैहाना तय्यबजी जब बच्ची थीं, इनके पिता खुदा की उपासना के लिये ज़ोर देते थे। चाहते हुए भी इनका भावुक हृदय उस ओर कुछ प्रगति न कर सका, वह तो किसी रसमय की तलाश में था? बाद ईसा की ओर इनका झुकाव हुआ, इसलिये कि कम से कम वे मानवों के समतल पर तो थे? पर हृदय की खूराक यहाँ भी नहीं मिल रही थी, उसकी गति अवरुद्ध थी। कुछ दिनों बाद जब सङ्गीत के सम्पर्क ने उन्हें श्रीकृष्ण की जानकारी दी, इनका आकुल हृदय बिल्कुल उछल पड़ा। इनकी रुचि इसी देवता को बहुत दिनों से खोज रही थी। इसके बाद इनकी आध्यात्मिक प्रगति विद्युद्वेग-सी बढ़ चली।

मैं कह सकता हूँ कि ईश्वर की कृष्ण-रूप में यदि अभिव्यक्ति न होती, तो बहन रैहाना जी का आकुल हृदय कभी स्वस्थ न होता। ईश्वर की अनेक अभिव्यक्तियों का आखिर आशय भी तो यही है— "साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पना।" भागवत ने इस तत्त्व का प्रकाशन बड़ा आवश्यक समझा इसलिये बार-बार उसने ऐसे वचनों को दुहराया है—

(क) यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति।
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥ (३, ९, ११)

(ख) तान्येव तेऽभिरूपाणि रूपाणि भगवंस्तव।
यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानामरूपिणः॥

हिन्दूधर्म की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि वह अधिकारी के अनुरूप ही उनको उपास्य देवता देता है और सामञ्जस्य की दृष्टि से यह भी समझा देता है कि तुम रुचि के अनुसार जिस देवता को चाहो, चुन लो; तन, मन, धन, उसके लिये अर्पण कर दो; इसके लिये यह ज़रूरी नहीं है कि तुम अन्य देवताओं की उपेक्षा कर दो, समझो कि सारे

देवता तुम्हारे ही इष्टदेव की अभिव्यक्ति हैं, वह दूसरे नामरूप से तुमसे पूजा चाह रहे हैं।

शास्त्र-विश्वासी हिन्दू इसी दृष्टि से करोड़ों देवताओं की पूजा करके भी केवल एक की ही पूजा करता है। अद्वैत के महापृष्ठपोषक श्री शङ्कराचार्य जी ने इसी आधार पर अनेक देवताओं की उपासना करके भी अपने पास द्वैत-भावना को फटकने तक न दिया। हमारे शास्त्र हमारी सहूलियत के लिये चुनाव के अवसर पर तो देवताओं को तैंतीस करोड़ के रूप में उपस्थित कर देते हैं; परन्तु इसके बाद हमें वह दिव्य आखें देते हैं, जिससे सारी अनेकताएँ सिमिटकर एकता को और पुष्ट कर देती हैं।

कुछ अनुपपत्तियां और उनका विवेचन

देवों के बाहुल्य से हानि होती है, इस सम्बन्ध में आपने एक कहानी लिखी है, वह कहानी है—"एक हिन्दू और एक मुसलमान नाव पर जा रहे थे कि आँधी उठी और नाव डूबने लगी। हिन्दू ने घबड़ाकर काली जी को पुकारा। वह सहायता को आगे बढ़ी ही थीं कि उसने बाबा भैरवनाथ जी का नाम लिया। काली जी रुक गयीं और भैरवनाथ जी ने त्रिशूल सँभाला। इतने में उसने बजरंगबली की दुहाई दी। मुसलमान यह तमाशा देख रहा था। उसने कहा "भाई साहब, जब तक यह पञ्चायत पूरी होगी तब तक यह नाव डूब जायगी। अब आप रुक जाइये।" यह कहकर उसने अल्लाह को याद किया। उन्होंने आकर नाव को किनारे लगाया।……हिन्दू सामान्यतः यही नहीं जान पाता कि 'कस्याहम्' (मैं किसका हूं)। वह एक दर्बार से दूसरे दर्बार में मारा-मारा फिरता है।……उस मनुष्य की दशा बड़ी भयावह हो जाती है जो पानी में डूबता हो और वह समझ रहा हो कि मैं तैरकर पार नहीं जा सकता, पर बीसों लकड़ियों को देखकर कभी एक को पकड़ता हो, कभी उसको छोड़कर दूसरी को।"

नाववाली कहानी से यह सिद्ध किया जा सकता है कि हिन्दूसमाज के कुछ लोग किसी एक देवता पर आस्था नहीं रखते; पर यह सिद्ध करना कि इसकी जड़ उपास्यों का बाहुल्य है, उसे मिटा देना चाहिये; कभी खतरे से खाली नहीं। क्योंकि ऐसे अधकचरे लोगों की रक्षा देवताओं की बहुलता को मिटाकर भी नहीं की जा सकती। ऐसे लोग किसी एक देवता पर आस्था नहीं रख सकते, यदि हिन्दू देवता नहीं मिल सके तो विजातीय देवताओं के पास दौड़ लगायेंगे ही। ऐसे अधकचरे लोगों से वह जाति, जिसमें एक देवता की उपासना होती है, शून्य हो; ऐसी भी बात नहीं। एक कहानी है—एक हिन्दू और एक मुसलमान में अपने-अपने देवता को लेकर बड़ी सरगर्मी पैदा हो गयी। हिन्दू कहता था—'राम बड़ा'। मुसलमान कहता था—सबसे बड़ा अल्लाह! झगड़ा इस बात पर तय पाया कि अपने-अपने देवता का नाम लेकर वृक्ष से कूदा जाय, जो बच जाय उसीका देवता बड़ा। विश्वासी हिन्दू ने पहिले भाग लिया। वह राम कहकर झट कूद पड़ा। बच गया। मुसलमान घबड़ाया। अधकचरा था इसलिये पञ्चायत में पड़ गया, सोचा राम की शक्ति तो सिद्ध हो गयी पर पता नहीं अल्लाह में वह ताकत है कि नहीं! उसने दोनों नाव पर पैर रखा। "रम खुदैया" कहकर कूदा। टागें टूट गयीं।

अतः देवताओं के बाहुल्य से ही यह अधकचरी वृत्ति होती है, यह नहीं कहा जा सकता। अतः उनके लिए उपास्यों का बाहुल्य मिटाना अपेक्षित नहीं। यही बात उन डूबनेवाले महाशय के लिये भी लागू है, जो बीसों लकड़ियों में से किसी एक को कभी दूसरे को पकड़ते हैं। उनके आगे से उन्नीस लकड़ियों को हटाकर भी हम उनकी रक्षा नहीं कर सकेंगे, क्योंकि उनकी दुर्बल मनोवृत्ति किसी विजातीय वस्तु का आश्रय लेने को कहेगी और तब तो उनकी हालत और खतरनाक हो जायगी? दूसरी बात यह है कि उन उन्नीस लकड़ियों को हटा इनकी रक्षा तो कर न

सकेंगे, उलटे हम उन उन्नीस मनुष्यों की हत्या भी कर डालेंगे जिनका यह आधार बनने वाली हैं। उनके बचाव का अचूक उपाय यह है कि उन्हें उनकी ग़लती का बोध करा दिया जाय।

मान लीजिए एक आयुर्वेदीय औषधालय है। उसमें बीस रोगों की बीस औषधियाँ रखी हैं। ज्वर का एक रोगी उसमें भर्त्ती हो गया। उसे ज्वर की दवा मिलने भी लगी। पर उसका विश्वास उस दवा पर टिका नहीं। वह चुपके से उन दवाओं को खाने लगा, जो उसके लिये घातक थीं। संयोग से वह पकड़ लिया गया। उस समय तो वह बच गया पर ऐसी ग़लती आगे भी कर सकता था। अतः उसकी रक्षा का कोई उपाय होना चाहिये। यदि रक्षा का यह दृष्टिकोण हो कि उसके रोग की दवा के अतिरिक्त सभी दवाओं को नष्ट कर दिया जाय तो यह उचित नहीं। क्योंकि ऐसा करने से उन दवाओं से अच्छे होनेवाले बहुतों की हत्या तो होगी ही, स्वयं वह रोगी भी नीरोग न हो सकेगा। क्योंकि उस दवा पर उसे आस्था तो है नहीं, यदि अन्य आयुर्वेदिक दवाएँ उसे न मिल सकीं तो एलोपैथी या होमियोपैथी की ओर बढ़ जायेगा। उस रोगी के बचाव का यही उपाय कामयाब होगा कि उसके दिमाग़ में यह बात जमा दी जाय कि तुम इसी दवा से ही आराम हो सकते हो।

इसी तरह जिस मनुष्य का विश्वास किसी एक देवता में न टिकता हो, कभी काली को पुकारता हो और कभी भैरव को; तो किसी एक देवता में एकान्त निष्ठा उत्पन्न करने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि एक के अतिरिक्त सभी उपास्यों को ही उड़ा दिया जाय। क्योंकि ऐसा करके भी उस अविश्वासी का कल्याण नहीं किया जा सकता, जब वह हिन्दू-देवता को न पायेगा तब आदत से लाचार हो मुसलमानी देवता की ओर बढ़ेगा ही। और दूसरी बात वही कि वैसा करने से विभिन्न रुचि-वालों की हत्या हो जायगी।

नतिः शक्ति के आदि स्रोत से मिलानेवाला कनेक्शन

आपने लिखा—"बचपन से हिन्दू को सिर झुकाने का अभ्यास डाला जाता है। इसको पता नहीं है कि उससे वन्दना पाने के अधिकारी कितने हैं, हर डीह, हर पत्थर, हर पेड़ में एक देवता या देवी का अड्डा हो सकता है। जहाँ कहीं बन पड़े सिर झुका दो, पानी डाल दो, चावल फेंक दो, इससे मनुष्य योनि और मनुष्य के उत्तमाङ्ग की मर्यादा नष्ट हो गयी।"

अध्यात्म दृष्टि से नमन की सार्थकता

चाहे जिस दृष्टि से विचारा जाय, सिद्ध यही होता है कि प्रणतिवाद जैसी मानवों की सुकर उन्नायक दूसरी वस्तु नहीं। आध्यात्मिक दृष्टि से तो दुनियाँ की सभी अभिव्यक्तियाँ, हर डीह, हर पत्थर, भगवद्रूप ही हैं। तैत्तिरीय में लिखा है—

सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वाभिवदन्यदास्ते।

(तै० आ०, ३, १२)

इस भावना से सभी को नमन करने में किसी धर्म को एतराज नहीं। सन्त तुलसीदास जी का "**सिया राम मय सब जग जानी। करौं प्रणाम जोरि जुग पानी**[१] ॥" यह अनुभव दुनियाँ के सभी सन्तों के अनुभव का प्रतिनिधित्व करता है। इन सन्तों के इस अनुभव का मूल वेद ही है—

विश्वभूतं भुवनं चित्रं बहुधा जातं जायमानं च यत्।
सर्वो ह्येष रुद्रस्तस्मै रुद्राय नमोऽस्तु.............।

इसका प्रयोगात्मक अनुभव सन्त एकनाथ जी के एक शिष्य ने किया था। हर समय हर चीजों के आगे नत होना, यही उनका एकमात्र

१—मनसैतानि भूतानि प्रणमेद् बहु मानयन्। ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति। श्री मद्भा० ३।२९।३४

साधन था। इसी वजह से लोग उन्हें 'दण्डवत्स्वामी' कहने लगे थे। पहले तो लोगों ने उनकी खिल्लियाँ उड़ायीं किन्तु जब उनके प्रणाम करते ही एक मृत-रासभ जी उठा ; तब लोगों को इस साधन का मूल्य मालूम पड़ा।

अधिदैव दृष्टि से नमन में वेदानुमोदन

अधिदैव दृष्टि से भी ईंटों, पत्थरों की वन्दना वेद से सिद्ध है। मिट्टी से प्रार्थना की गयी है कि—'तुम मेरे पापों का नाश कर दो, तुम्हें सिर चढ़ाता हूँ, पग-पग पर मेरी रक्षा करो—"**मृत्तिके हन्मे पापम्। अश्वक्रान्ते रथक्रान्ते···शिरसा धारयिष्यामि रक्षस्व मां पदे पदे**" (तै० आ०) इसी तरह ईंटों के लिये—"**या शतेन प्रतनोष सहस्रेण विरोहसि**" इस मन्त्र से स्तुतिकर—"**तस्यास्ते देवीष्टके विधेम हविषा वयम्**" कह कर हवि दिया गया है। इसी तरह यजुर्वेद के २२ वें अध्याय की २४ वीं कण्डिका से ३४ वीं कण्डिका तक विभिन्न जल, फल, फूल आदि की आहुति दी गयी है। ऋग्वेद में मण्डूकों से गौ आदि बड़ी-बड़ी चीज़ों की याचना की गयी है—

गोमायुरददाजमायुरदात् पृश्निरदाद्धरितो नो वसूनि।
गवां मण्डूका ददतः शतानि सहस्रसाव प्रतिरन्त आयुः।

इस तरह प्रत्येक पदार्थ में अधिदैव की जैसी सुथरी और सर्वाङ्गीण दृष्टि वेद की है, वैसी दृष्टि का अन्यत्र मिल सकना असम्भव है। यह वेद की अपनी विशेषता है, उसका यह बहुत बड़ा गुण है, अवगुण नहीं। यद्यपि वेद के इन उद्धरणों से यह सिद्ध हो चुका कि नमन से मनुष्य के उत्तमाङ्ग की चरम चरितार्थता है, उसकी मर्यादा का नाश नहीं ; फिर भी इसका सयुक्तिक वर्णन अपेक्षित है।

नमन का वैज्ञानिक विश्लेषण

दैव शक्ति से ही मनुष्य उन्नत हो सकता है और उसका प्रापक है—नमन

सृष्टि की दो मूल शक्तियाँ हैं—दैवी एवं आसुरी। दैवी शक्तियों से प्राणियों का क्रमिक विकास होता रहता है और अन्त में वह अपने लक्ष्य तक पहुँच जाते हैं। परन्तु आसुरी शक्ति प्राणियों के विकाश का रोधक है। अतः मनुष्य के लिये यह बहुत आवश्यक है कि वह दैवी शक्ति का ही सदा साथ करे और आसुरी शक्ति से अपने को बचाता रहे। परन्तु ऐसा होना है बहुत कठिन। क्योंकि आसुरी शक्ति बड़ी ही प्रबल है। हम स्वभावतः इसी शक्ति से आवृत रहते हैं, इसी में साँस लेते हैं। जब प्रयत्न करते हैं तब दैवी शक्ति हमें मिलती है। जैसे प्रकाश के लिये हमें प्रयत्न करना पड़ता है, दीपक आदि की व्यवस्था करनी पड़ती है, परन्तु अन्धकार बिना परिश्रम ही हमें स्वभावतः प्राप्त रहता है; उसी तरह स्वभावतः हम आसुरी शक्ति में ही पलते हैं; हाँ, जब प्रयत्न करते हैं तब दैवी शक्ति का सान्निध्य प्राप्त होता है। इस हालत में, अपना विकाश उत्तरोत्तर चाहने वालों के लिये यह ज़रूरी हो जाता है कि वह एक क्षण भी दैवी शक्ति की सन्निधि से न हटे। प्राणियों के पास यदि कोई ऐसी चीज़ हो, जिसके बल पर वह रातो-दिन सूर्य की ओर रह सके, तभी उसे तम से भय न होगा। इसी तरह दुनिया में यदि ऐसी कोई चीज़ हो, जो निरन्तर मनुष्य को दैवी शक्ति से संस्पृष्ट रखे, उसे ओझल न होने दे; तभी वह आसुरी शक्ति से बच सकता है। मैं कहूँगा कि दयामय वेद ने हमारे लिए वह वस्तु दे दी है, यदि हम इसको अपने साथ रख सकें तो निश्चित है कि आसुरी भाव के प्राणों को हम निर्बल, निष्क्रिय, बना देंगे। वह वस्तु है—नमन!

नमन से आसुरी शक्ति के प्राण गर्व का ह्रास

अब देखना यह है कि नमन में ऐसी कौन सी शक्ति है, जिससे हममें दैवी शक्ति तो जी उठती है और आसुरी शक्ति मूर्छित हो जाती है। बात यह है कि असुरता का प्राण है—गर्व। असुरों के गर्व का परदा इतना गाढ़ा होता है कि उस परदे से परदानशीं को देख पाना कभी सम्भव नहीं, अतः वे नास्तिक होते हैं। उनका गर्व उनकी दृष्टि में उन्हीं को ईश्वर बना रखता है। उनका वह परदा ठोस भी इतना होता है कि दीनता भी उसे नहीं फाड़ पाती, बल्कि उनके अहङ्कार में लीन हो उसे और पुष्ट करती है। रावण के दल में प्रत्येक व्यक्ति इसी गर्व के पुतले थे। प्रत्येक का अहङ्कार था—

अहमेको वधिष्यामि राघवं सह लक्ष्मणम्।
सुग्रीवञ्च हनूमन्तं सर्वांश्चैवान्यवानरान्॥

युद्ध के पहले इस अहङ्कार का होना मुमकिन है। पर उस समय भी, जब इनमें से प्रत्येक का क्रमिक नाश होने लगा था, बचे लोगों की यही उक्ति रही, अन्त तक रही। वे मर मिटे पर उनका गर्व न मरा। हाँ विभीषण आस्तिक थे, उनके गर्व का परदा झीना था, इसीलिये वे आसुरी शक्ति से उन्मुक्त थे। वे जान गये थे कि असुरों के नाश की जड़ अहंभाव है। बन्धुता की दृष्टि से उन्होंने राक्षसों को समझाया भी पर उन्हें आँखें कहाँ थीं? रावण के मरने पर विलाप करते समय विभीषण ने कण्ठरव से कहा है कि—रावणादि की मृत्यु का कारण उनका गर्व था— **"यन्न दर्पात् प्रहस्तो वा नेन्द्रजिन्नापरे जनाः। न कुम्भकर्णोऽतिरथो नातिकायो नरान्तकः॥ न स्वयं त्वममन्येथास्तेभ्योदर्कोऽयमागतः।"** वे मिट गये, पर उनकी असुरता न मिटी, क्योंकि उसका प्राण गर्व तो अभी जीवित था। इसी लिए उन्हें दूसरे जन्म में भी राक्षस ही होना पड़ा।

जिस तरह असुरता का प्राण गर्व की गाढ़ता है, उसी तरह देवत्व का प्राण है गर्व का ह्रास। यदि असुरों में गर्व न रह जाय तो निश्चित ईश्वर के आगे नत होने लगें, और तब यह भी निश्चित है कि उनकी असुरता ही मिट जाय। इसी तरह यदि देवों में गर्व बढ़ जाय तब इसका अर्थ है उनका देवत्व मिट जायगा, वे असुर बन जायँगे। एक बार पूरी सफलता से देवों ने दैत्यों पर विजय पायी। उनके गर्व का स्तर मोटा पड़ चला ईश्वर उनकी दृष्टि से ओझल हो गये। वे समझने लगे— "अस्माकमेव विजयोऽस्माकमेव महिमेति' (के० उ०।) और वे सुर से असुर बन चले। तब दया कर दयामय ने यक्ष रूप से उनका दर्प हर लिया। अभिमान गलने पर ही उन्हें 'हैमवती उमा' का दर्शन हुआ और वे नतमस्तक हुए, तब वे ईश्वर को समझ सके। इसी लिए गीता ने कहा है—

"तद्विद्धि प्रणिपातेन"

दक्षिण देश में चाङ्गदेव एक बड़े योगी हो गये हैं। अपने योगबल से उन्होंने १४ बार मृत्यु को भी परास्त किया था। पर गर्व का भूत उन पर भी सवार था, इसी लिये वे १४०० वर्षों की दीर्घ अवधि में भी ईश्वर को न पा सके। बाद, जब ज्ञानेश्वर महाराज ने पत्थर चला कर और चाङ्गदेव-पैंसठी से उनके गर्व को दूर कर दिया ; तब वे लक्ष्य तक पहुँच सके। अतः गर्व ही असुरता का मूल है। यदि अहङ्कार मिट गया हो तो आसुरी शक्ति भी मिट गयी समझिये। काम क्रोधादि कोई विकार न रह जाँयगे तब। और तब हमें हमारे लक्ष्य से कौन पृथक् कर सकता है ? अतः यह ज़रूरी है कि हममें गर्व न हो और इसके लिये जरूरी है कि हम दैवी शक्तियों का सहारा लें। निरन्तर दैवी शक्ति हमें प्राप्त होती रहे, हमें चलते, सोते, देखते, सुनते समय भी दैवी शक्ति से पृथक् न होना पड़े, इसके लिये यह आवश्यक है कि हमेशा हर चीजों में दैवी शक्ति का दर्शन मिलता रहे। इसी उद्देश्य को लेकर हमारे शास्त्रों ने प्रत्येक

अधिभूत में अधिष्ठातृ-देवता की दृष्टि दी है। जब हर डीह, हर पत्थर को हम डीह और पत्थर न समझ देवता समझेंगे, तब स्वभावतः हम उन्हें नमन करेंगे।

नमन और गर्व में उतना ही विरोध है, जितना सूर्य और अन्धकार में। हम नत तभी होंगे जब झूठे बड़प्पन का भूत हमसे दूर रहेगा। नमन वह प्रकाश है जिससे अहंकार की हिमानी पानी बन झर जाती है। हमें कण-कण में अधिदैव की दृष्टि तब तक रखनी पड़ेगी, जब तक ज्ञान सूर्य का अखण्ड उदय हमारे अन्तःकरण में नहीं हो लेता।

नमन आत्माभिमान पर ठेस नहीं पहुँचाता

पर मेरा यह आशय नहीं कि मैं आत्माभिमान को उड़ा देना चाहता हूँ। आत्माभिमान तो अवश्य ही होना चाहिये, पर अभिमान नहीं; आत्माभिमान और गर्व दोनों दो चीज़ें हैं। आत्माभिमान तो हमारा लक्ष्य है, और अभिमान उसका रोधक। मैं अभिमान को इसलिये उड़ाना चाहता हूँ कि आत्माभिमान प्राप्त हो। हम नमन कर आत्माभिमान को ठेस नहीं पहुँचाते, वरन् अभिमान को। हम मस्तक नवा उसकी मर्यादा को नहीं अपितु अभिमान की मर्यादा को उच्छिन्न करते हैं। यदि हमारा लड़का अपना मस्तक हमारे चरणों में झुकाता है, तब वह उसकी मर्यादा का ही पालन करता है। गुरुजनों, दैवी शक्तियों के सामने नत होना भी मस्तक की मर्यादा ही है। अतः सिद्ध हुआ कि नमस्कार करना भी उत्तमाङ्ग की मर्यादा है, नति ही उन्नति है, अनति ही अवनति है—

न कस्याप्युन्नत्यै भवति शिरसस्त्वय्यवनतिः (महि० स्तो०)

अधिदैव दृष्टि से नमन में अधिकारी का ख़याल अपेक्षित है

अब प्रश्न यह है—"जो प्रत्येक पेड़-पत्थर के सामने घुटने टेक सकता है वह दूसरे मनुष्यों को साष्टाङ्ग दण्डवत् करने में क्यों संकोच करने

लगा ? हिन्दू छोटे से छोटे जमीनदार, छोटे से छोटे अहलकार, स्वधर्मी, विधर्मी, स्वदेशी, विदेशी, जो कोई हो उसको हाथ जोड़ सकता है। हमारे यहाँ ब्राह्मणों को, जो धर्म के रक्षक हैं, विदेशी और विधर्मी शासकों के प्रति 'धर्मावतार' जैसे शब्दों का प्रयोग करते देखा जाता है।"

साफ बात तो यह है कि हम प्रत्येक पेड़-पत्थर के सामने घुटने नहीं टेकते, वरन् तदधिष्ठित देवता के सामने; क्योंकि वेद ने पेड़-पत्थरों के नमन में अधिदैव दृष्टि रखने को कहा है, न कि अधिभूत दृष्टि। शास्त्रों ने कुछ मनुष्यों में भी अधिदैव दृष्टि रखने को कहा है—"मातृदेवो भव, पितृदेवो भव," इत्यादि। अतः हम उनका भी नमन करते हैं; पर यह नमन भी तद्तद्रूपों में देवों के लिये ही है। अनधिकारी मनुष्य को हम क्यों नमन करेंगे जब शास्त्र इसके विपक्ष में है ?

अब रहा सवाल यह कि कुछ ब्राह्मण विधर्मी कुटिल शासकों के प्रति "धर्मावतार" जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं।

आपने इस बात को प्रणाम से होने वाली हानि के सिद्धि में लिखा है। आप का यह आशय है कि हर डीह, हर पत्थर के आगे झुकते-झुकते हिन्दू में बड़ी कायरता आ गयी है। आज के कुछ ब्राह्मण जीहुजूरी करते हैं। इस सम्बन्ध में मेरा निवेदन यही है कि कुछ अधकच्चरे लोगों के दृष्टान्त से कोई सिद्धान्त कायम नहीं किया जा सकता। क्योंकि ऐसे लोग दुनिया की अच्छी से अच्छी चीजों का भी दुरुपयोग कर देते हैं। तपश्चर्या कितनी उन्नत वस्तु है ? पर अनधिकारी वर्ग इससे भी दुनिया का अहित ही करते हैं; साथ-साथ अपना भी सर्वनाश कर लेते हैं। यह अनधिकारी अमृत को भी विष बना देते हैं। अथर्ववेद में रावण के लिये लिखा गया है कि उसने तप जैसे अमृत को भी विष बना दिया था।

ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षः दशास्यः।
स सोमं पपौ स चकाररसं विषम्।' ४, ६, १।

जिस तरह आज के कुछ ब्राह्मणों ने प्रणतिवाद की फिलासफी का

दुरुपयोग किया है, उसी तरह, उन दिनों रावण ने, जो ब्राह्मण ही था, तपस्या को विष बना दिया था जिससे उसका सर्वनाश हुआ। पर इस दृष्टान्त से से यह सिद्धान्त कायम नहीं किया जा सकता कि तपस्या बुरी चीज़ है और न यही कहा जा सकता है कि "उन दिनों सभी ब्राह्मण भ्रष्ट हो चुके थे।" इसी तरह यह नहीं कहा जा सकता कि "प्रणतिवाद बुरा है, या आज के सभी ब्राह्मण आत्माभिमानशून्य हैं; जी-हुजूरी करने लगे हैं।"

एक मेरे परिचित ब्राह्मण हैं। छात्रावस्था में ये बिल्कुल असहाय थे। पढ़ने की क़तई सुविधा न थी। एक आर्यसमाजी क्षत्रिय सज्जन ने इनकी सहायता की, १०) मासिक भेजने लगे। मनीआर्डर के प्राप्ति-पत्र का प्रारम्भ ब्राह्मण महोदय ने आशीर्वाद से किया। आर्यसमाजी महोदय तो 'नमस्ते' के आदी थे। अपने लिये नमस्ते का न लिखना उन्हें खला। लिखा कि आगे से नमस्ते किया करो। नहीं तो रुपये न भेजूँगा। ब्राह्मण महाशय को यह मालूम था कि अपने से छोटे लोगों को प्रणाम करने से छोटे लोगों पर आपत्ति आती है। इन्होंने लिखा 'आप मेरे हितैषी हैं, तब मैं आपका अहित कैसे कर सकता हूँ ? नमस्ते करके मैं आपको दुःख में डालना नहीं चाहता। मैं अपने इस विश्वास से लाचार हो, आप को नमस्कार नहीं कर सकता। आपका यदि नमस्ते में ही विश्वास है, तो मैं वैसा न करने में बाध्य हूँ। आप उचित न समझें तो रुपया भी न भेजें।' ऐसी मनोवृत्तियाँ आज भी अधिक ब्राह्मणों में हैं। आज भी ब्राह्मण विश्व की हितैषिता से विमुख नहीं। उनकी सक्रियता की एक छोटी सी मिसाल है—'धर्मसंघ'।

सन्त जयदेव की रचना 'चिर सुन्दर' के पथ का मधुमय शम्बल है

तीसरे लेखांश के प्रारम्भ में आपने ब्राह्मणों के हाथ देवों की दुर्गति

की प्रतिज्ञा करते हुए लिखा है—"इसी तरह कुछ दूर तक कवि के लिये सामान्य बन्धन ढीले भी किये जा सकते हैं, परन्तु कवि को स्वयं संयम से काम लेना चाहिये। जिसने अपनी कलम बेलगाम घोड़ी की भाँति छोड़ दिया, वह प्रतिभा का दुरूपयोग करता है। उसकी रचना से शिवेतर-क्षति के स्थान में शिवेतरवृद्धि होती है।......जयदेव की रचना में ताल, स्वर, प्रसाद, ओज, माधुर्य, लय सब कुछ हो, परन्तु मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि बङ्गाल की हिन्दू कालीन स्वाधीनता के प्रदीप को, जो लक्ष्मणसेन के कायर हाथों में ही अस्थिर हो रहा था, भक्तराज के अशिव गीत ने चिरकाल के लिये बुझा दिया।"

कवियों के लिये जिस संयम की आपने आवश्यकता बतलायी है, सचमुच वह बहुत ही अपेक्षित है। जो कवि इस संयम की उपेक्षा करते हैं, पुराणों ने उनके दर्शन से भी पाप बतलाया है—'काव्यकर्त्तारं, देवद्विजविरोधिनम्" (स्कंद पु०)। परन्तु जो कवि जीवन-साहित्य के स्रष्टा हैं, पुराण ने उन्हें बड़ा सम्मान दिया है। देवी-भागवत में लिखा है कि ऋषि ही कवि हो सकते हैं—"नानृषिः काव्यकर्ता स्यात्"। जब देव की रचना आध्यात्मिक-पथ की शुष्कता को रसमय बना देती है, उस पथ के राहगीरों में नव-जीवन भर देती है। यह उनके पथ का कितना मधुर मादक शम्बल बन सकी है, यह इतिहास से जाना जा सकता है। अतः जयदेव उसी कोटि के कवि हैं जिसमें केवल ऋषियों की ही गुंजाइश है।

योग और ज्ञान का मार्ग बड़ा रूखा, बड़ा रपटीला है, सहृदय व्यक्ति के लिये तो उस पथ में खूराक की कोई व्यवस्था नहीं, स्त्रियों के लिये तो जैसे वह कल्पना की चीज़ है। अतः इन्हीं लोगों की दृष्टि से वेद ने रसमय मार्ग की व्यवस्था की है। इन भावुक व्यक्तियों के अनुरोध से वह परमात्मा, जो निर्गुण, निराकार, निर्विकार है और जिसे कठोपनिषद् एवं बृहदारण्यक ने अरस कहकर पुकारा है, सगुण, साकार और सरस

बनकर आता है—**"रसो वै सः"**; जो स्थाणु ब्रह्म है, वही 'मधुब्रह्म' बन जाता है—**"मधु क्षरति तद्ब्रह्म"**; वह सर्वविध रसों के उच्छल प्रस्रवण के रूप में हमारे सामने आता है—**"सर्वगन्धः सर्वरसः"** (छा० उ० ३, १४।२)।

जो विषयासक्त हैं उन्हें अन्तर्दृष्टि प्राप्त नहीं, वे निराकार से कौन सा लाभ उठाते? उनकी आँखें जब सुन्दर से सुन्दरतम की खोज में बाहर ही व्यस्त हैं, उनके कान जब दुनियवी प्रत्येक ध्वनियों की ओर ही सतत झुक रहे हैं, तब उनसे किसी योगप्रक्रिया की कौन सी आशा की जा सकती है और तब उनके उद्धार की ही कौन आशा है? इन पामरों और परमहंसों के लिये ही दयामय अति सुन्दर बन अधर पर मोहक मुरली धर लेते हैं, निराकार से कृष्ण (आकर्षक) बन जाते हैं—**"त्वयि न स्तुतिशक्तिरस्ति कस्याप्यथवास्त्येव यतोऽतिसुन्दरोऽसि"** (**आचार्य उत्पल**)। तब विषयासक्तों की भी उग्र पिपासुता बुझाने के लिये उधर बढ़ना ही पड़ता है; बरबस खिंच जाना पड़ता है।

जब लक्ष्य ही रस है, मधु है, तब उसके पथ का सुधासिक्त होना कोई आश्चर्य नहीं। लक्ष्य को 'कृष्ण' एवं इसके पथ को 'भक्ति' या 'मधुविद्या' कहते हैं—**"वै तस्य ते भक्तिवाँसः स्याम"** (अथर्व०, ६,७०)। दूसरे शब्दों में वह लक्ष्य है प्रेम; एवं उसका साधन भी है—प्रेम—**"साधन सिद्धि रामपद नेहू।"** जयदेव कवि ने जीव के इसी अभिसार का चित्रण अपनी रचना में किया है। जब लक्ष्य 'रस' है, साधन 'रस' है, तब उसका वर्णन भी तो सरस ही होना चाहिये न?

जिनकी प्यास दुनिया के फीके रस से नहीं बुझती, वे स्वभावतः उस रस की ओर दौड़ते हैं, जो सब से श्रेष्ठ रस है—**"स एव रसानां रसतमः'**; वे उस ओर झुकते हैं; जहाँ से मधु का स्रोत उमड़ा है—**'विष्णोः पदे परममध्व उत्सः'**। किन्तु प्यासा आखिर दौड़ ही कितना सकता है; थककर लाचार न हो जायगा बेचारा? माना कि उसका अगला

क़दम उस पथ पर पड़नेवाला है जहाँ थकान, हाहाकार, भूख, प्यास की पहुँच नहीं; परन्तु उस वस्तु की तो अभी अपेक्षा है जो इसमें चैतन्य ला दे ताकि यह कदम उठा सके! मैं कहूँगा कि जयदेव की रचना ऐसे राहगीरों के लिये पीयूष-पेय लेकर उपस्थित होती है। उन पथहारों को सहलाती हुई यह रस की वह घूँटें देती है जिससे उनका अगला कदम प्रेम के मसृण-पथ पर ही पड़ जाता है और उनकी दुनिया न्यारी हो जाती है। फिर यह उस सरस संसार में जा बसते हैं, जिसे माया की छाया तक नहीं छूती; जहाँ का हँसना मधुमय, रोना मधुमय, सब चीज़ें मधुमय रहती हैं और जिस नये संसार में पहुँचने की अकुलाहट वेद के कण्ठों से सतत फूटती रहती है—

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वा मूले मधूलकम्।
मधुमन्मे निष्क्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद्भूयाँसं मधुसन्दृशः॥

जिस खूराक को रहस्यमयी रासपञ्चाध्यायी देती आ रही है, जयदेव की रचना उसी में हाथ बँटाती है। इसमें जीव और प्रेम के उच्छ्रल प्रस्रवण शिव की दिव्य लीलाओं का वर्णन है, अश्लील चित्रण नहीं। छान्दोग्य ने जिस तत्व का "**आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति**" इन शब्दों में वर्णन किया है, उसीका विस्तृत एवं अपेक्षित वर्णन जयदेव की रचना[1] में है। आत्मा में ईश्वर

१—इस सत्य का कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने भी साक्षात्कार किया है। जयदेव की कविता की तरह ब्रजभाषा का सारा साहित्य भी राधा-माधव के मधुर रस के वर्णन से ओत-प्रोत है। की (Keay) साहब न तो उन कविताओं को घासलेटी मानते हैं और न उनके रचयिताओं को उच्छृङ्खल। उन्होंने लिखा है राधा एवं अन्य गोपियाँ मानवीय आत्मा-स्वरूप हैं।......वह कवितायें आत्मा को परमात्मा में लय दिखलाती हैं। उन कविताओं को कवियों ने अशुद्ध भावना से मुक्त हो धार्मिक

के निष्कलुष रमण के वर्णन को भला अश्लीलता कैसे छू लेगी ? हाँ, इस वर्णन के पढ़ने-सुनने के सभी अधिकारी नहीं। जिनकी दृष्टि जीव को स्त्रीत्व-पुंस्त्व की क्षुद्र परिधि से उन्मुक्त पाती है, वे इससे लाभ उठा सकते हैं। जो लोग इस कोटि के नहीं उन्हें तो इससे परहेज ही रखना चाहिये। ऐसे लोगों को इसमें अवश्य कुवृत्तियों का दर्शन होगा। किन्तु, वह दोष उनका रहेगा, गीतगोविन्द का नहीं। अनधिकारी यदि छादोग्य के 'अहमतनाद' से 'अहमद की जय' और 'कुहुन' शब्द से 'काहियान' की सिद्धि कर इसलामधर्म को वेद सम्मत कहने का दावा करते हैं; तब इसमें वेद का कौन सा दोष है ?

जब यह निश्चित है कि लक्ष्मणसेन के हाथ कायर थे और उनमें स्वाधीनता का दीपक थरथरा रहा था; तब यह भी निश्चितप्राय है कि बङ्गाल को उन्हीं ने पराधीन बनाया। केवल कल्पना के सहारे जयदेव जी की रचना पर वह कलङ्क न उछालना चाहिये।

पुराणों की वेदानुकूलता

आपने पुराणों पर यह अभियोग लगाया है कि उनका आधार तो वेद है, पर वे वेद के विरुद्ध अपसिद्धान्तों का प्रचार करते हैं। आपने लिखा कि "वेदों के पीछे पुराणों में ही मुख्यतः देवचर्चा है, परन्तु पौराणिक देव-सूची को श्रौत देव-सूची से मिलाने से दोनों में बड़ा भेद देख पड़ता है। वैदिक देवों में से प्रायः सब का पद गिर गया है।......अग्नि,

---

एकाग्रता से प्रेरित होकर ही राधाकृष्ण के विषय में लिखी हैं—

"Rahda and the other Gopies stood for human souls,......The writers of these lyrices of passionate devotion were often men of real religious earnestness, quite free from any impure molives in Composing them."

यम, कुबेर, वरुण, बृहस्पति, अश्विद्वय, वायु, सूर्य, छोटे-छोटे विभागों के अधिष्ठाता:रह गये हैं।"

पुराणों ने देवों को पदच्युत नहीं किया

मैं कहूँगा कि पुराणों में देवताओं के लिये जो कुछ बातें कही गयी हैं, प्रायः वे सब वेद की ही देन हैं। देवताओं की छीछालेदर न तो पुराणों ने की है और न तो वेदों ने। संख्या की दृष्टि से पौराणिक देव-सूची और वैदिक देव-सूची में कोई अन्तर नहीं, यह पहले लिखा जा चुका है। अब रह गया सवाल अग्नि आदि के छोटे विभागों के अधिष्ठाता होने का।

यदि ध्यान से देखा जाय तो पता चलेगा कि जिन देवताओं को जैसा पद वेद ने दिया है; पुराणों ने उससे उन्हें कभी च्युत नहीं किया। कुछ मिसालें ले ली जायँ—

(क) पुराणों ने यम को जो दक्षिण दिशा का अधिपति माना है; वह वेद से प्रतिकूल नहीं। अथर्ववेद में लिखा है—

दक्षिणा तिष्ठन् यमः (९,१२,२२)

(ख) पुराणों ने वरुण को पश्चिम दिशा का अधिपति ठहराया, जो वेद की वाणी है—

प्रतीची दिग् वरुणोऽधिपतिः (अ० ३।२७,३)

(ग) वेद ने भी अग्नि को एक दिशा का अधिपति माना—

किं देवतोऽस्यां ध्रुवायां दिश्यसीत्यग्निदेवत इति

(बृहदारण्यक)

(घ-ङ) इसी तरह सूर्य और बृहस्पति को भी वेद एक-एक दिशा का अधिष्ठाता मान रहे हैं—

किं देवतोऽस्यां प्राच्यां दिश्यसीत्यादित्यदेवत इति

(बृह० उ०)

ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः (अथर्व०, ३,२७,६)

इन उद्धरणों से यह सिद्ध हो जाता है कि वेद ने ही इन देवताओं को दशदिक्पालों में सन्निवेश किया है; यह पुराणों की ज़्यादती नहीं कि वे उन्हें दिक्पाल भी कहते हैं।

इसी सिलसिले में आपने लिखा—"सबसे बड़ी दुर्गति तो इन्द्र की की गयी है। देवराज वह अब भी कहलाते हैं परन्तु उनका स्थान वही है, जो किसी बड़े साम्राज्य में किसी माण्डलिक राजा का होता है।......वेदों में एक कथा आती है कि विष्णु, रुद्र, सूर्य, सब ने मिलकर इन्द्र को अपना राजा चुना। वह इन सबसे बलवान् और पूज्य हैं। शतपथ ब्राह्मण के शब्दों में 'इन्द्रः सर्वाः देवताः', 'इन्द्रः श्रेष्ठाः देवाः'। विष्णु को वेद ने कई जगह 'इन्द्रसखा' भी कहा है। उनका एक नाम है 'इन्द्रावरज' इन्द्र के पीछे जन्मा हुआ, इन्द्र का छोटा भाई।"

विष्णु ही इन्द्र से श्रेष्ठ हैं

देवराज की पदवी के साथ-साथ वेद ने ही इन्द्र को दिक्पाल भी माना है—

प्राच्यां दिशि त्वमसि राजा (अ० ६,९८,३)

अथर्व वेद का ही एक और वचन है—

इन्द्रः प्राङ् तिष्ठन् (९,१२,२२)

माण्डलिक वाला सवाल तो तब उठता, जब वेद तो केवल इन्द्र को देवराज कहते और पुराण उन्हें दिक्पाल तक ही सीमित रखते।

इसके बाद के लेख से चार हेतुओं के द्वारा आपने इन्द्र को सब देवों से बड़ा प्रमाणित करने की चेष्टा की है। उन पर क्रमशः विचार किया जाता है—

(१) देवताओं के राजा चुन जाने मात्र से इन्द्र त्रिदेवों से बड़े नहीं हो सकते। श्रीकृष्ण ने उग्रसेन को यदुवंशियों का राजा बनाया, तो

क्या राजा बनने मात्र से उग्रसेन को कृष्ण से महान् माना जायगा ?

(२) शतपथ के वचनों से केवल यही सिद्ध होता है कि इन्द्र श्रेष्ठ देवता हैं; विष्णु और रुद्र से भी श्रेष्ठ हैं, यह तो उनका आशय नहीं। जिस प्रकार इन्द्र के लिये **"इन्द्रः सर्वा देवताः"** लिखा गया है, उसी तरह जल और अग्नि आदि के लिये भी वचन मिलते हैं—**"आपो वै सर्वा देवताः"** (शतपथ), **"अग्निर्वै सर्वा देवताः"** (शतपथ, ३, ४, १०), तो क्या जल को इन्द्र से भी श्रेष्ठ कहा जायगा ?

जिस शतपथ ने इन्द्र के लिये केवल **"इन्द्रः श्रेष्ठा देवाः"** कहा है; उसी शतपथ ने विष्णु के लिये **"तस्मादाहुर्विष्णुर्देवानां श्रेष्ठः"** लिखकर इन्हें श्रेष्ठ ही नहीं, सबसे श्रेष्ठ ठहराया है।

(३) वेदों में विष्णु के लिये 'इन्द्रसखा' का प्रयोग ज़रूर हुआ है। पर इस शब्द से यह नहीं सिद्ध होता कि इन्द्र विष्णु से बड़े हैं; प्रत्युत उन-उन मन्त्रों में, जिनमें यह 'इन्द्रसखा' शब्द आया है, इन्द्र की अपेक्षा विष्णु को ही बड़ा माना गया है। यजुर्वेद का एक मन्त्र है—**"विष्णोः कर्माणि पश्यत यतोव्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा"** (यजुः ६, ४; १३, १३)। यह मन्त्र ऋग्वेद (१, २२, १९), सामवेद (१६, ७१), अथर्ववेद (७, २६, ६) और तैत्तिरीय संहिता (१, ३, ६, २) में भी मिलता है। भाष्यकारों ने यहाँ सखा पद का अर्थ किया है—सहायक; और 'युज्यः' का अर्थ किया है—समर्थ। अतः 'इन्द्रस्य युज्यः सखा' इस वाक्य का यह अर्थ हुआ कि, विष्णु इन्द्र के समर्थ—सहायक हैं; अर्थात् इन्द्र को विष्णु की सहायता अपेक्षित रहती है। वेदों में अन्यत्र भी 'सखा' शब्द का 'सहाय' अर्थ में प्रयोग हुआ है—**"त्वं ह त्यदिन्द्रचोदीः सखा"** (ऋग्वेद १, ६३, ४)।

अतः इन्द्रसखा शब्द से यही सिद्ध हुआ कि विष्णु इन्द्र की अपेक्षा बड़े हैं, न कि इन्द्र ही बड़े हैं। जिस तरह विष्णु के लिये **"इन्द्रस्य युज्यः सखा"** शब्द आया है, ठीक उसी तरह इन्द्र के लिये 'यजमान

सखा' शब्द आया है—

(क) येषामिन्द्रो युवा सखा (यजु० २३, २४)
(ख) सुन्वतः सखा (ऋग्० १, ५, १०)

इन मन्त्रों में भी सखा का अर्थ सहायक ही है और मानना ही पड़ेगा। नहीं तो आपकी रीति से तो यजमान ही इन्द्र से बड़ा बन जायगा। अतः जिस तरह 'यजमान सखा' शब्द से यह सिद्ध नहीं होता कि यजमान इन्द्र से बड़ा है, उसी तरह 'इन्द्रसखा' शब्द से भी यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि इन्द्र विष्णु से महान् हैं। इसीतरह श्रीमद्भागवत में ईश्वर को जीवसखा कहा है—**'पुरुषस्य सखेश्वरः'** ४, २९, तो क्या यह साबित हो सकेगा कि ईश्वर जीव से छोटा है ?

(४) 'इन्द्रावरज' शब्द से भी विष्णु की महत्ता पर आँच नहीं आती, बल्कि इस नाम में जो इतिहास छिपा है वह उलटे इन्द्र की अपेक्षा विष्णु को ही बड़ा बतलाता है। सच पूछिये तो 'इन्द्रसखा' का दृष्टान्तात्मक शब्द है—'इन्द्रावरज'। बलि से जब इन्द्र का तेज प्रतिहत हुआ, तब विष्णु ने इन्द्र की उचित सहायता की। वामन अवतार धर, उनके छोटे भाई बन, इन्द्र को फिर से उनके पद पर आसीन किया।

पुराणों की आवाज़ वेद की ही है

आगे आपने लिखा—"(पुराणों में) उनका (देवों का) नैतिक चरित्र और भी गया-बीता है। बात-बात में झूठ बोलते हैं, एक दूसरे की पत्नी के पीछे दौड़ते रहते हैं, गुरुतल्पगमन जैसे घोर पाप से भी विरत नहीं होते, किसी की बढ़ती देख नहीं सकते, किसी को तप करते देख काँप उठते हैं, जो लोग धर्म और तप के मार्ग पर आरूढ़ होते हैं उनको पथ-भ्रष्ट करने के लिये नीच से नीच उपायों से काम लेते हैं······परन्तु वैदिक वाङ्मय में, जिसको पुराणों का आदिस्रोत बतलाया जाता है, देवों के प्रति ऐसी बातें नहीं मिलतीं।"

आपके इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि आप उपरिनिर्दिष्ट बातों को केवल पुराण की देन मानते हैं, वेद की नहीं। अतः मेरा पहला काम यह है कि मैं इन बातों को वैदिक वाङ्मय में दिखलाने की चेष्टा करूँ, ताकि पुराणों को अपनी जिम्मेवारी न रहे। बाद देवता-तत्त्व पर भी प्रकाश डाला जायगा।

कभी-कभी झूठ सत्य हो जाता है

पुराण ने देवों से बात-बात में झूठ नहीं बुलवाया। प्रायः उन्हीं अवसरों पर झूठ कहलाया है, जहाँ झूठ सत्य का चोला पहन लेता है। महाभारत में भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर से बतलाया है कि जहाँ मिथ्या सत्य के समान हो या सत्य मिथ्या के समान हो, वहाँ मिथ्या बोलना ही ठीक है। मान लीजिये, एक निरपराध गौ दस्युओं के डर से एक ऐसी जगह छिप गयी, जहाँ मेरे बतलाये बिना दस्युओं की पैठ ही न हो। इस हालत में दस्युओं ने मुझसे पूछा और मैंने सत्य के लिहाज से गौ को बतला दिया, तो मेरा यह सत्य झूठ से भी खतरनाक साबित होगा।

सत्य धर्म है—हमारा उन्नायक; और झूठ है पातक—हमें गिराने वाला। इस अवसर पर सत्य बोल देने से गोहत्या का पातक क्या मुझे न लगेगा? देखिये, यहाँ सत्य ही पातक (गिराने वाला) बन रहा है; उन्नायक नहीं। बल्कि झूठ ही यहाँ धर्म बन गया है; पातक नहीं। अतः ऐसे अवसरों पर झूठ ही सत्य बन जाता है। केवल शब्दोच्चारण करना तो सत्य है नहीं—

"सत्यस्य वचनं श्रेयः, सत्यादपि हितं वदेत्।
यद्भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यं मतं मम॥"

पुराण ने धर्म की इस सूक्ष्मता का जो विचार किया है, वह भी वेद की ही देन है। परमात्मा ने, उस अवसर पर कि मैंने ही पृथिवी आदि की रचना की है, यह भी कहा है कि मैं सत्य और अनृत दोनों बोलता हूँ—"अहं जजान पृथिवीमुतद्याम्......अहं सत्यमनृतं यद्वदामि।"

(अथर्व०, ६,६१,२-३)। इससे भगवान् ने सत्यधर्म के अपवाद पर ही ध्यान दिलाया है।

(ख) दूसरे की पत्नी के पीछे दौड़ना

इन्द्र अहल्या के पीछे पड़े थे, भले ही उनका यह काम देवकल्याण को लेकर रहा हो, ऐसा पुराण में सचमुच लिखा है। पर उस कथा का खासा इशारा तो वेद में भी है—

(क) अहल्याया मैत्रेय्या (इन्द्रः) जार आस (षड्विंश १,१)

(ख) अहल्यायै जारेति (शतपथ, ३,३,४,१८)

(ग) तैत्तिरीयारण्यक के पहले प्रपाठक के बारहवें अनुवाक में इन्द्र के लिये '**अहल्यायै जार**' और '**गौतमब्रुवाण**' ये दो शब्द आये हैं। यहाँ सायण ने स्पष्ट शब्दों में लिख दिया है कि अहल्या गौतम की भार्या थी और इन्द्र उसके जार थे—"**अहल्या गौतमस्य भार्या तस्या इन्द्रो जारोऽति।**" इसी तरह 'गौतमब्रुवाण' शब्द से भी इस इतिहास पर प्रकाश डाला गया है। इसका अर्थ यह है कि गौतम को खुश करने के लिये, जिसने उनकी स्तुति की—"**गौतमो महर्षिः, तं प्रसादयितुं स्तुतिं कृतवान्।**" गौतम के शाप से इन्द्र का शरीर बदसूरत हो गया था, तब बहुत अनुनय-विनय करने पर गौतम ने उन्हें 'सहस्राक्ष' बना दिया। वेद ने इन्द्र को इस नाम से भी याद किया है—"**उपप्रागात् सहस्राक्षः**" (अथर्व० ६,३७,१)

(ग) चन्द्रमा का गुरुतल्पगमन

चन्द्रमा का गुरुतल्पगमन जिस प्रकार पुराणों में मिलता है, उसी तरह, उसी विस्तार से, अथर्ववेद में भी। कहीं-कहीं तो शब्दसाम्य भी है—

(क) सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छदहृणीयमानः। अन्वर्तिता वरुणो मित्र आसीदग्निर्होता हस्तगृह्या निनाय। (५, ७, २)

(ख) तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीतां……।
(५, १७, ५)

(ग) सौमायनो बुधः । (तांड्य २४, १८, ६)

(घ) देवता भी विघ्न करते हैं

देवता किसी की बढ़ती देख ही नहीं सकते, ऐसी बात नहीं और न यही कि किसी की भी तपस्या से काँप उठते हैं। जिन मनुष्यों की दृष्टि देवता से परे कुछ और नहीं देखती, जो अनवरत यज्ञादि से उन्हें तृप्त करते रहते हैं, देवता उनकी सदैव बढ़ती देते रहते हैं; उनकी उन्नति उन्हें खटकती नहीं। ऐसे उदाहरणों से वेद-पुराण रिक्त नहीं।

हाँ, उपासकों के कुछ उन्नत वर्ग की बढ़ती उन्हें अवश्य खटकती है और उन्हें वे विघ्न देते भी हैं। श्री शंकराचार्य्य ने लिखा है— **अन्येन वा देवादिना विघ्नितः** (**मुण्डकभाष्य**)। अथर्ववेद के छठे काण्ड के एक सौ बत्तीसवें सूक्त से पता चलता है कि देवता दूसरे को पीड़ा पहुँचाने के उद्देश्य से स्मर को प्रेरित करते थे—

यं देवा स्मरमसिञ्चन्नप्स्वन्तः शोशुचानं सहाध्या।

इस बात का सहेतुक विस्तृत विवरण बृहदारण्यक में है। निम्नलिखित उद्धरण से यह ज्ञात हो सकेगा कि बृहदारण्यक ने किस तरह पुराणों की जिम्मेवारियाँ हटा दी हैं—

"अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद, यथापशुरेवं स देवानां, यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान् भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु ? तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः।"

आशय यह है कि जिस तरह हाथी आदि बलिष्ठ पशु अपने बल के भूल जाने के नाते मनुष्यों के अधीन हो उनकी सेवा करते हैं, उसी तरह

ब्रह्म-विद्या से रहित उपासक अपनी महती आत्मशक्ति को न जान देवताओं को हविष्प्रदानादि से खुश करने की चेष्टा करते रहते हैं (ऐसे उपासकों की देवता उत्तरोत्तर उन्नति देते हैं, विघ्न नहीं; क्योंकि यज्ञादि से यह उन्हें तृप्त करते रहते हैं) पर यही उपासक जब ऐन्द्रादि बड़े-बड़े पदों की आशा से तप करते हैं, अथवा इन पचड़ों से ऊब ऊपर उठने लगते हैं, तब देवता विघ्न करने लगते हैं। इसलिये कि वह उपासक जब उनसे भी ऊपर उठ जायगा या सम-कक्ष हो जायगा तो उन्हें हवि न दे सकेगा। इसी बात को समझाने के लिये उदाहरण दिया गया है कि जिस तरह बहुत से पशुओं के मालिक को, उसके पशुओं में से एक का भी अपहरण असह्य होता है; उसी तरह जब एक भी उपासक 'परमपथ की ओर' अग्रसर होता है; तो उन्हें अप्रिय मालूम पड़ता है।

बृहदारण्यक के इस प्रतीक से देवताओं का विघ्नकारित्व सम्भावित है। क्योंकि इसके पहले यह आया है कि जो ब्रह्मवित् हैं, उनके विघ्न में देवता भी समर्थ नहीं—"**तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते आत्मा ह्येषां स भवति।**" किन्तु जो कर्मी हैं, ब्रह्मवित् अभी हुए नहीं, उनके विघ्न में वे समर्थ हैं और करते भी हैं। श्रीमद्भागवत ने इसी आशय को केवल शब्दान्तर से दुहराया भर है—

"**त्वां सेवतां सुरकृता बहवोऽन्तराया स्वौको विलङ्घ्य परमं व्रजतां पदं ते। नान्यस्य बर्हिषि बलीन् ददतः स्वभागा-न्धत्ते पदं त्वमविता यदि विघ्नमूर्ध्नि॥ ११, ४, १०**

बृहदारण्यक के छठें अध्याय के तृतीय ब्राह्मण में इस बात का भी उल्लेख है कि विघ्नकारी देवताओं को हवि दे देने से विघ्न नहीं होता— "**यावन्तो देवास्त्वयि जातवेदस्तिर्यञ्चो घ्नन्ति पुरुषस्य कामान्। तेभ्योऽहं भागधेयं जुहोमि ते मा तृप्ताः सर्वैः कामैस्तर्पयन्तु।**

तैत्तिरीय ब्राह्मण में पुत्रोत्पत्ति के लिये ब्रह्मौदन नामक एक विधान मिलता है। उसमें बतलाया गया है कि आधान के पहिले दिन ब्रह्मौदन

के द्वारा ब्राह्मणों को प्राशन कराया जाय; वह इसलिए कि यदि यह न किया गया तो आदित्य देवता यजमान के काम में रुकावट डाल देंगे—

ते वा इतो यन्तं प्रतिनुदन्ते। (तै० ब्रा० १, १, ९)

देवताओं की विघ्नकारिता के बहुत से ऐतिहासिक निदर्शन भी वेदों उपलब्ध हैं। मैं यहाँ कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय ब्राह्मण का केवल एक उदाहरण देता हूँ। पहले कालकञ्ज नाम के असुर थे। उन्हें स्वर्ग जाने की इच्छा हुई और वे इसके लिए अग्निचयन करने लगे। प्रत्येक असुर एक-एक ईंट जोड़ता था। इन्द्र को उनकी यह हरकतें खलीं। वे ब्राह्मण का वेष धरकर उनमें मिल गये। इन्होंने भी ईंट को जोड़ा और उसकी परख भी खूब कर ली।

जब कालकञ्जलोग स्वर्ग की आर बढ़ने लगें, तब इन्द्र ने अपनी ईंट खिसका दी। चिति भर्रा पड़ी; सभी दैत्य बीच से ही नीचे आ पड़े। उन असुरों में दो बड़े श्रद्धालु रहे। इसलिए वे स्वर्ग तो पहुँच गये, परन्तु चितिभ्रंश हो जाने के नाते उन्हें वहाँ कुत्ता बनकर रहना पड़ा—

'कालकञ्जा वै नामासुरा आसन्। ते सुवर्गाय लोकायाग्निमचिन्वन्त। पुरुष इष्टकामुपादधात्पुरुष इष्टकाम्। स इन्द्रो ब्राह्मणो ब्रुवाण इष्टकामुपाधत्त। एषा मे चित्रा नामेति। ते सुवर्गलोकमाप्रारोहन्। स इन्द्र इष्टकामावृहत्। तेऽवाकीर्यन्त। येऽवाकीर्यन्त, त ऊर्णावभयोऽभवन्। द्वावुदपतताम्।" तौ दिव्यौ श्वानावभवताम्। तैत्ति० ब्रा० कां० १ प्रपा० १ अनु० १

देवताओं पर भी कामादि का जादू कामयाब होता है

इन पंक्तियों के पर्यालोचन से यह दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि पुराणों की आँखों से हम देवता के जिस रूप को परखते हैं, ठीक उसी रूप को वेद से भी। वेद में देवताओं की जिन त्रुटियों का उल्लेख है, पुराण भी उन त्रुटियों को हमारे आगे रखते हैं; किन्तु देवों की

छीछालेदर में किसी का तात्पर्य नहीं, तात्पर्य है नैसर्गिक निदर्शन में, तथ्य के अनपलाप में।

बात यह है कि मानव और दानव की तरह देवता भी माया के दायरे से बाहर नहीं, कामादि का जादू उन पर भी चला करता है। अथर्ववेद ने स्पष्ट शब्दों में लिख दिया है कि कामदेव का अतिक्रमण देवता, मनुष्य, पितर कोई नहीं कर सकते—

कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः। ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महाँस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि। ९,२,१९

अथर्ववेद में ही अन्यत्र लिखा है कि देवताओं के लिये स्वर्ग में बहुत सी स्त्रियाँ होती हैं, उनमें कामोपभोग की प्रचुरता है—"**नैषां शिश्नं प्रदहति जातवेदाः, स्वर्गे लोके बहुस्त्रैणमालाम्**" (४,३४,२) ऋग्वेद में लिखा है कि देवताओं की योनि—है तो उन्नत योनि, पर उसमें भी कुछ न कुछ असुरता का असर रहता है, उनकी मुख्य असुरता यह है कि उनको नयी-नयी युवतियाँ होती हैं—

नव्या नव्या युवतयो भवन्ति महद्देवानामसुरत्वमेकम्।
(३०,५५,१६)

माया के कार्यभूत इन कामादिकों की सचमुच बड़ी प्रबलता है, इनसे सर्वदैव सतर्क रहने की जरूरत है, यही पुराणादिकों का तात्पर्य है। मनु ने इस बात को खोलकर सावधान किया है—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्ताऽऽसनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

जब देवताओं पर भी इनका जादू चलता रहता है तो मनुष्यों को तो इनसे सदा सावधान रहना चाहिये, यही भीतरी रहस्य है वेद और पुराण का।

देवता-तत्व

हाँ, इस अवसर पर यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि देवताओं में भी जब यह कमजोरियाँ मौजूद हैं, तब मनुष्य उनकी ओर झुके ही क्यों ? आपके शब्दों में—"उनसे तो हम साधारण मनुष्य ही अच्छे हैं। जो लोग इतने पतित हैं, उनके आगे सिर क्या झुकाया जाय, उनके नाम के साथ स्वाहा जोड़कर क्या उन्हें हव्य दिया जाय, क्या उनसे कुछ माँगा जाय ?"

सन्त, असुर, मनुष्य और देवता का विश्लेषण

इन पंक्तियों से पता चलता है कि देवताओं के सम्बन्ध में आपकी धारणा बड़ी उन्नत है। आप उन्हें स्वार्थ, द्वेष, मोह से बिलकुल परे देखना चाहते हैं। पर बात ऐसी है ही नहीं। आपकी इन सभी उन्नत धारणाओं का पूर्णतः प्रतिफलन केवल ब्रह्मविदों में, सन्तों में ही होता है। जिस प्रकार ईश्वर को माया नहीं व्यापती, उसी तरह वह ब्रह्मविदों की छाया को भी नहीं छू पाती—"**ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।**" ये हमेशा ब्रह्मानन्द में लीन रहते हैं, अतः माया का बड़ा से बड़ा प्रलोभन उनके लिये घृणा की ही चीज़ होती है। तैत्तिरीयारण्यक ने इनके आनन्द की अपरिमितता बतलाने के लिये तुलनात्मक विचार किया है। मानवानन्द से लेकर हिरण्यगर्भ तक के सांसारिक आनन्दोत्कर्ष को दिखलाकर बतलाया कि यह सभी आनन्द ब्रह्मविदों को होता है—"**श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य**"। बल्कि इस सांसारिक-आनन्द से परे का वह अनन्त आनन्द भी उन्हें होता है, जिस आनन्द का यह दुनियावी आनन्द एक अंश है—"**एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।**"

इसलिये ये सन्त माया के दायरे से दूर, बहुत दूर होते हैं। परन्तु देवता इस दायरे से बाहर नहीं। अतः सन्तों को हम सूर्य्य कह सकते हैं, जिनके लिये तम की काली यवनिका का अस्तित्व ही नहीं रहता और न किसी

तरह की आँधी ही जिसे अपने प्रकाश से विलग कर सकती है। सन्तों की कोई खास जाति तो है नहीं ; देवता, दानव, मानव सभी में सन्त हो सकते हैं और दूसरे वे माया से ऊपर उठे होते हैं ; अतः उनकी तुलना छोड़ हमें उनपर तुलनात्मक दृष्टि डालनी चाहिये जो माया के घेरे में है, तभी देवता-तत्त्व पर प्रकाश पड़ सकता है।

बात यह है कि सृष्टि के चरम विकाश हैं—देवता। क्योंकि उद्भिज, स्वेदज, अण्डज एवं जरायुजों में सर्वश्रेष्ठ है—मानव ; और देवता मानव से ऊपर उठे होते हैं। असुर तो नाम से ही बदनाम हैं। इन तीनों में जिसमें जितनी अधिक मात्रा में प्रकाश होगा वह उतना ही श्रेष्ठ समझा जायगा ; इनके परखने की यही कसौटी है।

असुरयोनि में तो थोड़ा भी प्रकाश नहीं होता, प्रजापति ने उसे तमिस्रामय बनाया है—**"तेभ्यस्तमश्च मायाञ्च प्रददौ"** (शतपथ)। वह आसुरी शक्ति, जो घोर तमिस्रा की प्रसवित्री, पोषिका एवं रूप है ; प्रायः इन असुरों में ही पलती है। प्रकाश से तो असुरों को स्वाभाविक वैर है ; माया से ही वह बढ़ते हैं और माया में ही वह साँस लेते हैं—**"मायया वावृधानम्"** (अथर्व० २०,३६,६), **"तां मायां असुरा उपजीवयन्ति"** (अथर्व०)। कीच से कमल की तरह शायद ही असुर-समाज में प्रह्लाद जैसा पूत प्रकाश पैदा होता है।

मनुष्य, असुर और सुर इन दोनों से विलक्षण होता है। यह न तो असुरों की तरह तम और माया का पक्षपाती है और न तो देवताओं की तरह स्वभावतः दिव्य। असुरों की तरह यह बिलकुल प्रकाशन-शक्ति से रिक्त नहीं, इसमें वह शक्ति तो है अवश्य, पर देवताओं की तरह स्वतः नहीं। अतः मानव को बिजली-बल्ब कहना चाहिये। बल्ब जब विद्युद्द्वारा से संस्पृष्ट नहीं रहता, तब वह चारो ओर तम से घिरा रहता है; इसी तरह मानव जब दैवीशक्ति से संस्पर्श नहीं रखता, पापों से घिरा रहता है। बिजली का कनेक्शन पाते ही जैसे बल्ब जल उठता है, उसी तरह मानव

भी दैवीशक्ति की सन्निधि में आकर प्रकाशित हो जाता है। और बल्ब की तरह जैसे ही इसका दैवीशक्ति में कनेक्शन छूटता है, वह फिर तम से, पाप से, अभिभूत हो जाता है। इसी आशय से वेद ने कहा है—

व्यक्तिषक्त इव वै पुरुषः पाप्मना। (ऐ० ब्रा० ४, ४)

सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः। (शत० ३, ९, ४, १)

सत्यसंहिता वै देवा अनृतसंहिता मनुष्या इति। [ऐ० ब्रा० १, ६]

और देवता; वह तो प्रभामय मणि की तरह हैं। वे स्वतः प्रकाशित होते हैं; अपने प्रकाशन के लिए उन्हें बल्ब की तरह दूसरे की सहायता बिल्कुल अपेक्षित नहीं। मनुष्यों की तरह वह पापों से घिरे तो रहते नहीं, संस्पृष्ट भी नहीं होते। हाँ, इतना होने पर भी माया कभी-कभी उन पर अपना जादू डाल ही देती है। किन्तु जिस तरह तम को प्रकाशवान् मणि पर अधिकार प्राप्त करना टेढ़ी बात है, वह प्रबल झोंके के सहारे किसी पात्र से उसे ढककर ही उसके आसपास में अपना अस्तित्व कायम कर सकता है, उसी तरह कामादि के उग्रतम आघात से ही कोई देव कभी थोड़ी देर के लिए अपना प्रकाश आवृत पाते हैं। परन्तु उस अवस्था में भी पाप-रूपी तम उन्हें छू नहीं पाता; उनका बिखरा प्रकाश सीमित हो जाता है पर बुझता नहीं। पापों पर यही उनकी शानदार विजय है; यही है देवताओं की दिव्यता—

अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपियन्ति लोकम अपहतपाप्मानो हि देवा भवन्ति [अथर्व० ४, ३४, २]

तात्पर्य यह है कि असुर अन्धकार हैं और देवता प्रकाश। वह नास्तिक होते हैं, यह आस्तिक। असुर की धुँधली दृष्टि केवल अपने स्थूल शरीर को ही सब कुछ समझती है, देवता इस शरीर को महत्त्व न देकर नैतिक एवं आध्यात्मिक शरीर की स्वस्थता पर ज्यादा ध्यान रखते हैं। वेद ने असुरों की इस विशेषता को व्यक्त करने के लिए ही इनका नाम रखा है—असुर।

अर्थात्, केवल अपने प्राणों में (अधिभूत पदार्थ में) रमण करनेवाला—**स्वेष्वेवासुषु रमणात्** [वृ० भा० ३, १]। असुरयोनि और सुर-योनि यह दोनों योनियाँ भोगयोनि हैं, असुर उनका जबरदस्त उपभोग करता है, परन्तु देवता इस योनि में भी भोग से भरसक अपना बचाव करते हैं, उसका उपभोग भी अकसर अनासक्त होकर करते हैं। सुर कहते ही हैं उनको, जो सुष्ठु रमण करनेवाले हों—सु + रम्।

सतत प्रकाशित मणि और कदाचित् प्रकाशित बल्ब की तरह देवता और मानव हैं। देवता के पास कभी, किसी हालत में, पाप का अन्धकार फटक नहीं सकता; और मानव सदा इसीसे घिरा रहता है, चेष्टा करने पर प्रकाशित होता है। देवता के पास भोग की समग्र सामग्री आप उपस्थित रहती है, पर इससे वे मत्त नहीं हो जाते, होश नहीं खो देते; और मानव उसकी ही वासना में सोता-जागता है; उसकी केवल चाह से इसमें वह खुमारी भरी रहती है कि यह आत्मचिन्तन को भूल बैठता है। कितना बड़ा पार्थक्य है, देवता और मानव में ? मनुष्य स्वभावतः पतित है और देवता स्वभावतः उत्थित। एक झूठ है, दूसरा सच। एक भूमि है, दूसरा स्वर्ग। एक कीच है, दूसरा कमल।

अतः यह तय हुआ कि देवता मानवों से ऊपर उठे होते हैं, उनमें निसर्ग की देन से एक ऐसी दिव्यता होती है, जिसका अतिक्रमण अन्ध-कार कर नहीं सकता। अतः मानवों को देवताओं के प्रति नतमस्तक होना ही चाहिये, इस नैसर्गिक नियम का अपलाप कर नहीं तो वह मिट जायगा जो ?

देव-संस्पर्श से ही मानव की समग्र सफलता सम्भव है

थाइसिस के रोगियों के लिये ऋतुकाल में भी स्व-स्त्रीसहवास पातक (गिरानेवाला) है। किन्तु यही कानून उन स्वस्थ वैद्यों के लिये त्याज्य नहीं, जो इन रोगियों में स्वास्थ्य की शक्ति भरते हैं। यदि यह रोगी उन वैद्यों से, यह सोचकर कि जो हमारे लिये पातक है उसी से यह महोदय

ग्रस्त हैं अतः उनकी ओर हम क्यों झुकें, विद्रोह कर बैठें; तो क्या इनकी हालत एकान्त भयावह न हो जायगी ? इसी तरह हम अपनी ही आँखों से देवों को न देखें। जो हमारे लिये पातक है, वह उनके लिये भी पातक ही हो, यह कोई ज़रूरी नहीं। दुर्गाचार्य ने कहा है कि देवताओं का धर्म मानव-धर्म से विषम है—

"मनुष्यधर्मविपरीतो हि देवताधर्मः"

ऋग्वेद के दशवें मण्डल के दशवें सूक्त में आये एक मन्त्र से भी इस बात की पुष्टि हो जाती है। उसका आशय है कि जो वस्तु मनुष्यों के लिये त्याज्य है (मर्त्यस्य त्यजसं), वह देवताओं के लिये भी त्याज्य नहीं; सभी (एकस्य चित्) देवता उसे चाहते हैं और वैसा उन्होंने किया भी है—

उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्यचित् त्यजसं मर्त्यस्य।

[ऋ० १०, १०, ३]

मानव-धर्मशास्त्र के विधानानुसार मल का भक्षण करने वाला मनुष्य पतित हो जाता है। परन्तु अग्निदेवता उसे चट कर जाते हैं, वह तो पतित नहीं होते ? सूर्य, वायु और देवनदी ने ऐसी अपवित्र चीज़ों से कहाँ परहेज़ रखा है ? तो क्या इसी नाते मनुष्य सूर्य, अग्नि, वायु से घृणा करने लगेगा, विद्रोह कर बैठेगा ? अगर करता है, तब वह उष्णता कहाँ से ग्रहण करेगा, सांस कैसे ले सकेगा ? अतः जैसे रोगियों का पातक स्वस्थों के लिये पातक नहीं रह जाता, उसी तरह कतिपय मानवोचित पातकों से देवताओं का पतन नहीं होता। और जैसे थाइसिस के रोगियों के लिए वैद्यों का आश्रयण अपेक्षित है, उसी तरह आसुरीशक्ति से बचाव के लिये हमें देवों का सम्पर्क अवश्य अपेक्षित है; नहीं तो मानव-बल्ब जलेगा कैसे ?

एक बात और है। मान लिया जाय कोई देवता अप्रकाशित ही हों, पर देवता होने के नाते उनमें वह ताकत अवश्य होती है कि वह अपने उपासकों को प्रकाशित कर दें। बिजली के तार में बिजली की समस्त शक्तियाँ प्रधावित होती रहती हैं, इन शक्तियों के रहते भी तार खुद प्रका-

शित नहीं होता; परन्तु उसमें वह अव्यर्थं शक्ति अवश्य होती है कि यह अपने से संस्पृष्ट बल्ब को अवश्य जला दे। इसी तरह भले ही कुछ देवता अप्रकाशित हों, परन्तु उनमें दैवी शक्तियों की अविच्छिन्न धाराओं के बहते रहने के नाते उनसे संस्पृष्ट मानव-बल्ब जलकर ही रहता है।

यदि बल्ब यह थोथा दलील पेश करे कि जो तार स्वयं प्रकाशित नहीं वह मेरा प्रकाशन क्या करेगा, मैं उससे क्यों सटूँ ; तब क्या कभी बल्ब प्रकाशित हो सकेगा ? मानव-बल्ब भी देवताओं की उपासनारूपी कनेक्शन पाये विना अन्धकार से अपने को नहीं बचा सकता। अतः स्वयं प्रकाशित होने के लिये मानवों को देवताओं की ओर झुकना ही चाहिये। एक उदाहरण लीजिये—वेद ने मनुष्यों को गो-पूजा का आदेश दिया है—"**नमस्ते जायमानायै जातायै उत ते नमः! बालेभ्यः शफेभ्यो रूपायाऽघ्न्ये ते नमः**" (अ० १०।१०)। सवाल उठता है कि वेद जिस गौ की पूजा का विधान दे रहा है, वह तो मनुष्य की अपेक्षा बड़े गहरे अन्धकार में है ? बुद्धि, विद्या और धर्म की अपेक्षा-कृत कमी होती है उसमें ? उससे तो हम मनुष्य ही अच्छे, तब हम उसकी पूजा क्यों करें ? उत्तर वही होगा कि तार की तरह गौ भले अप्रकाशित है, पर हम मानव-बल्ब को तो वह बाल ही देगी। गौ चाहे मरकर नरक में जाय, पर उसके पूजक का तो कल्याण होगा ही ; चाहे वह न तरे, पर पूजक को तार देगी ही।

इन आलोचनात्मक विवेचनाओं से यह पता चल जाता है कि देवता जन्मतः ही उपास्य हैं। कभी किसी से कुछ पाप हो भी गया तो वह उन्हें लगता नहीं। इन्द्रों में कोई इन्द्र, बृहस्पतियों में कोई एक बृहस्पति फिसले हैं, जिनका कि वेदादिकों में उल्लेख है। और उसका यही तात्पर्य है कि जब देवता भी फिसल सकते हैं, तब तुम्हारी कौन बिसात ; सदा सतर्क रहो।

देवताओं का परस्पर-भावन

आपने लिखा—"यह अपने पदकाल में ब्रह्माण्ड का सञ्चालन करते

हैं...। देवों को देवयोनि होने से ही निष्प्रयास एक प्रकार की समाधि प्राप्त रहती है, परन्तु उस समाधि-जन्य प्रज्ञा और विभूति का उपयोग वह लोग भवसमुद्र में पड़े हुए अल्पवीर्य, अल्पमेध प्राणियों के हितार्थ करते रहते हैं। इसमें उनका कोई स्वार्थ नहीं, भूतदया ही कारण है। यह ठीक है कि मनुष्य को चाहिये कि हव्य और स्तुति से देवों का सन्तर्पण करे, पर यह इसलिये नहीं कि इसके विना देवताओं का कोई कार्य रुक जाता है, प्रत्युत इसलिए कि कर्त्तव्य का पालन न करना अधर्म है...।"

यह ठीक है कि देवताओं से ब्रह्माण्ड का सञ्चालन होता है; सूर्य, अनिल, वायु, जलादि की प्रत्येक प्रक्रिया पर ही दुनिया टिकी है। सूर्य जो यथासमय प्रकाश विखेरते है, वायु जो अतन्द्रित चलती रहती है, अग्नि और जल जो प्रत्येक क्षण हममें प्राण भरते रहते हैं, इन कामों में इन देवताओं का कोई स्वार्थ नहीं। ऋग्वेद ने लिखा है कि देवता सर्वदा मानवों के पथ पर प्रकाश डालते रहते हैं—

यस्मै पुत्रासो अदितेः प्रजीवसे मर्त्याद ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम्

(१००,१८५,३)

इस तरह इस बात को मानते हुए मैं यह भी कह देना आवश्यक समझता हूँ कि देवताओं को इन सामान्य कार्यों में ही स्वार्थ नहीं रहता किन्तु विशेष कार्यों में स्वार्थ होता ही है। मनुष्य हवि देकर अवश्य ही देवताओं के स्वार्थ की पूर्ति करते हैं। हवि की उत्कण्ठा तो उनमें इतनी होती है कि इसके लिए उन्हें उन्नत साधकों को विघ्न पहुँचाने के लिये बाध्य होना पड़ता है।

यह ठीक है कि उन्हें एक निष्प्रयास समाधि प्राप्त रहती है, पर उस समाधिजन्य प्रज्ञा और विभूति का उपयोग वे उन्हीं प्राणियों के लिये करते हैं, जो उन्हें पुकारते हैं, उनकी स्तुति करते हैं, हवि देते हैं। इसमें इनका अपना स्वार्थ भी रहता है। भव-समुद्र में पड़ा कोई भी अल्पमेध और अल्पवीर्य तब तक बहुमेध एवं बहुवीर्य नहीं बनता, जब तक कि

अपनी ओर से वह देवताओं के लिए कुछ नहीं करता। इसीलिए श्रीमद्भागवत ने देवताओं को 'कर्मसचिव' कहा है।

देवताओं को छाया की उपमा देकर यह बतलाया गया है कि जैसे हम जैसी चेष्टा करते हैं, हमारी छाया भी ठीक वही करती है; उसी तरह जब हम देवताओं को भजेंगे तभी वे हमारा ख़याल रखेंगे—

भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान्।
छायेव कर्म-सचिवाः साधवो दीनवत्सलाः ॥ (११, २, ६)

वेदव्यासजी ने इसी बात को इन्हीं शब्दों से पद्मपुराण के पाताल-खण्ड में (८४, २७) दुहराया है। इनका यह कथन वेदार्थ का ही शब्दान्तर में प्रतिफलन-मात्र है। ऐतरेय ब्राह्मण की निम्नलिखित पङ्क्ति पर ध्यान दें—

यादृगिव वै देवेभ्यः करोति तादृगिवास्मै देवाः कुर्वन्ति।
(३, ६)

कर्त्तव्य कोलाहल से भरी दुनिया में परस्पर-भावन की ही सार्थकता है। अतः इन बातों से देवताओं की दयालुता पर कोई आँच नहीं आती; आखिर कर्म का रहस्य ही यह है। केवल सन्त ही परस्पर-भावन के घेरे से ऊपर उठे होते हैं, केवल वही दुनिया की निःस्वार्थ सेवा करते हैं। उन प्राणियों को, जो अपनी सहायता के लिये भी किसी को नहीं पुकारते, यही ऊपर उठाते हैं।

देवताओं का यह परस्पर-भावन, यह अन्योन्याश्रयता, वेदों में भी बड़े विस्तार से वर्णित है। यजुर्वेद के एक मन्त्र में यजमान और इन्द्र का संवाद आता है। यजमान कहता है—"हे शतक्रतो, हम दोनों हवि और उसके फल की परस्पर में खरीद-विक्री करें; मैं हवि देता हूँ, आप मुझे फल दें"—

वस्नेव विक्रीणावहा इषमूर्जं ७ शतक्रतो (यजुः ३,४९)

इन्द्र उत्तर देते हैं—"पहिले तुम हमें हवि दे डालो बाद तुम्हें उसका

फल देंगे; हमारे आगे हवि रखो तो देखो हम फल देते हैं कि नहीं ?"—

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे (यजुः ३, ५०)

यजमान प्रत्युत्तर देता है—"पहिले आप ही क्रेतव्यवस्तुरूप फल दे डालिये, बाद मैं उसके मूल्यस्वरूप हवि दे दूँगा—

निहारञ्च हरासि मे निहारं हराणि ते स्वाहा (यजुः ३,५०)

इस संवाद से परस्पर-भावन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है। इसी सत्य से प्रेरित होकर सायणाचार्य ने भी बड़ी दृढ़ता से कहा है—'**तस्मान्मनुष्याणां क्रय-विक्रयाविव यजमानदेवतयोर्याग-तत्फले विश्रम्भेण व्यवहर्तुं शक्यते। (तै० सं० कां० १ प्रपा० १ अनु० १)**

वेद का एक दूसरा मन्त्र बहुत स्पष्ट एवं निर्धारणात्मक शब्दों में बतलाता है कि देवता पहले तृप्त हो लेते हैं, तब यजमान को तृप्त करते हैं—

तृप्त एव एनमिन्द्रः प्रजया पशुभिश्च तर्पयति।

गीता का तो इस सम्बन्ध में विधिवाक्य उपलब्ध है। उसका आदेश है कि हम देवताओं को यज्ञ के द्वारा उन्नत बनावें और वह भी हमें उन्नत करें—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।

इस परस्पर-भावन में ही मनुष्य और देवताओं का कल्याण निहित है—

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

उनकी पुष्टि हमारे अधीन है और हमारी सभी अभिलषित वस्तुएँ उन से मिल सकती हैं—"**इष्टान् भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।**"

यज्ञ के बिना देवताओं का काम भी रुक जाता है

आपने यह जो लिखा कि हमें केवल कर्त्तव्य की दृष्टि से देवताओं को हवि देना चाहिये, इसलिये नहीं कि इसके बिना उनका कार्य रुक जाता

है; इस सम्बन्ध में मुझे कुछ कहना है। केवल कर्तव्य की दृष्टि से यदि हवि दिया जाय, तो यह बहुत उन्नत आदर्श की बात होगी, हमें अपनी दृष्टि ऐसी ही बनानी चाहिये, यह मन्तव्य बहुत ठीक है; पर इसके साथ-साथ यह भी ठीक ही है कि यज्ञ के बिना देवताओं का कार्य रुकने लगता है। हवि देते समय ऐसी दृष्टि का होना हेय अवश्य है, किन्तु असत्य नहीं। देवता समर्थ हैं सही, पर प्रशास्ता का प्रशासन ही कुछ ऐसा है कि इस दीन वृत्ति का आश्रयण उन्हें करना ही पड़ता है, जीवन-निर्वाह के लिये यजमान की बाट देखनी ही पड़ती है—

तथा च यजमानं देवा ईश्वरा सन्तो जीवनार्थेऽनुगताः चरुपुरोडाशाद्युपजीवनप्रयोजनेन अन्यथापि जीवितुमुत्सहन्तः कृपणां दीनवृत्तिमाश्रित्य स्थिताः, तच्च प्रशास्तुः प्रशासनात्। (बृ० उ० भा० ३, ८)

(क) शतपथ में आता है कि एकबार प्रजापति के पास विविध प्राणी उपस्थित हुए। मनुष्यादिकों के बाद देवगण की बारी आयी। प्रजापति ने देवताओं को बतलाया कि यज्ञ ही तुम्हारा अन्न होगा—

ततो देवा यज्ञोपवीतिनो भूत्वा दक्षिणं जान्वाच्योपासीदन्, तानब्रवीत् यज्ञो वोऽन्नम्। (२, ४, २, १)

यदि बिना अन्न के हमारा काम रुक जाता है, तब हवि के बिना देवताओं का कार्य क्यों न रुक जायगा; जब कि हवि ही उनका अन्न है?

(ख) ऋग्वेद में मरुत्देवता के लिए 'अभोग्घन' विशेषण दिया है, जिसका अर्थ होता है कि जो देवताओं को भोजन के लिये हवि नहीं देते, मरुद्देवता उन्हें मार डालते हैं—

ये देवान् हविर्न भोजयन्ति तेषां हन्तारः (सायण)

(ग) हम देवताओं को हवि देकर और उनकी स्तुति कर उनकी कमी की अवश्य पूर्ति करते हैं। ऋग्वेद में कई जगह लिखा है कि स्तुति करने से देवताओं का बल बढ़ता है। भूखे को जैसे भोजन से सन्तोष

मिलता है, उसी तरह स्तुति से देवताओं को —**"प्र यो न हर्मि स्तोमं माहिनाय"** (ऋ० १, ६१, १)। ऋग्वेद के ही दूसरे मन्त्र में आया है कि स्तुति करने से इन्द्र के हाथ में वज्र स्वयं आ उपस्थित होता है—

"ते वज्रं जरिता बाह्वोर्धात्" (ऋग्० १, ६३, २)

(ग) गीता का 'यज्ञभाविताः' पद साफ बतला रहा है कि देवता यज्ञ से बढ़ते हैं।

(घ) बृहदारण्यक के **"एकैकः पुरुषः देवान् भुनक्ति"** इस प्रतीक का सायण ने यह अर्थ किया है कि एक भी मनुष्य हवि के द्वारा अग्नि-सूर्य्यादि देवों का पालन करता रहता है—**"पुरुष एकैक एव अग्निसूर्येन्द्रादीन् देवान् हविष्प्रदानादिना पालयति"**। एतदर्थक एक और श्रुति है—**"स्वयं स देवान् तपसा पिपर्ति"**।

(ङ) हवि के लिये देवता कितने उत्कण्ठित रहते हैं इसका एक छोटा सा इतिहास ऋग्वेद में है। एक बार अगस्त्य जी ने सोचा कि कल मैं इन्द्र को हवि दूँगा। देवता मनुष्य के मन की बात जानते हैं—**"मनो ह वै देवा मनुष्यस्य जानन्ति"**। इन्द्र को इसका पता लग गया। वे बड़े तड़के बिना बुलाये ही अगस्त्यजी के यहाँ आ पहुँचे। उधर अगस्त्यजी का विचार बदल गया था। उनने हवि इन्द्र को न देकर मरुतों को दे डाला। इस पर इन्द्र को जैसे रोना आ गया, जिसका वर्णन इस मन्त्र में है—

न नूनमस्ति न श्वः कस्तद्वेद यदद्भुतम्।
अन्यस्य चित्तमभि सञ्चरेण्यमुताधीतं विनश्यति ॥

(ऋग्० १, १७०, १)

(च) मनुष्य यदि देवताओं को हवि नहीं देता तो कर्त्तव्य की दृष्टि से तो वह च्युत हो ही जाता है साथ-साथ इसलिए भी उसे पाप सताता है कि वह देवादिकों को तृप्त नहीं करता—

एष ह वा अनद्धा पुरुषो यो न देवानवति, न पितॄन् न मनुष्यान् (शत०)

वेदों ने भी विष्णु और रुद्र को इन्द्र से बड़ा माना है

आपने लिखा—"पुराणों में देवगण की यह दुर्गति इसलिये की गयी है कि विष्णु या महादेव को उनसे ऊँचा दिखलाया जाय। अधिदेव दृष्टि से तो विष्णु और रुद्र को श्रुति ने इन्द्र के पीछे रखा है...।"

यह दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि श्रुति ने इन्द्र को त्रिदेवों से बड़ा कभी नहीं बतलाया। प्रत्युत पुराण की तरह वेद ने भी इन्द्र को त्रिदेवों से पीछे रखा है। गौण-रूप से ब्रह्मा का आपेक्षिक महत्त्व बतलाते हुए मैं यह दिखलाने की चेष्टा करता हूँ कि किन-किन श्रुतियों ने रुद्र और विष्णु को इन्द्र से श्रेष्ठ ठहराया है।

पुराण की तरह वेद ने भी ब्रह्मा को सृष्टि का आविर्भावक माना❀ है,

---

❀ १—इन्द्रादि देवों से पहिले ब्रह्मा की उत्पत्ति—

(क) भूतानां ब्रह्मा प्रथमोऽत जज्ञे (अथर्व० १६,२२,२१)

(ख) यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति (श्वे० उ० ६, १२)

(ग) हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् (ऋग्० १०, १२१, १ अथर्व ४, २, ७ वा. य. १३, ४; २३, २५, १०; तै० सं० ४, १, ८, ३; २, ८, २; ता० ब्रा० ९,९, १२)

२—ब्रह्मा का सृष्टिकर्तृत्व—

(क) द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः (तै० आ० १०,१०)

(ख) धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।
(ऋग० १०,१९०, १ तै० आ० १०,१,१३)

(ग) परीत्यलोकान् परीत्य भूतानि परीत्य सर्वाः
प्रदिशो दिशश्च।
प्रजापतिः प्रथमजाः.........॥ (तै० आ० १०,१)

उनके लोक को इन्द्रादि लोकों से श्रेष्ठ मान उसमें पहुँचने वालों की महाप्रलय के अवसान में ब्रह्मा के साथ मुक्ति मानी है और आक्षेपिकं दृष्टि से भी ब्रह्मा को इन्द्र से श्रेष्ठ ठहराया है। इन ब्रह्मा के भी उत्पादक हैं रुद्र। रुद्र जब इन्द्रादिके स्रष्टा ब्रह्मा के भी स्रष्टा हैं, तब रुद्र को इन्द्र से निकृष्ट क्यों माना जाय ? तैत्तिरीयारण्यक में लिखा है—

यो देवानां प्रथमं पुरस्तात् विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः

१—(क) **वियस्तस्तम्भ षळिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्।** (ऋग० १,१६४,६)

(ख) **अतएव चानन्याधिपतिः** (ब्रह्मसू० ४,४,६)

(ग) **वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था**
सन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः।
ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले
परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे॥
(तै० आ० १०,१०)

(घ) **कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात्।**
(ब्रह्मसू० ४,३,१०)

२—(क) तैत्तिरीय ने आनन्द के तारतम्य बतलाने के अवसर पर इन्द्र से बहुत गुना आनन्द ब्रह्मा को बतलाया है—"**ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः, स एको बृहस्पतेरानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य; ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दः**............।" (प्रपा० ८ अनु० २)

(ख) छान्दोग्य से पता चलता है कि देवराज इन्द्र और दैत्यराज विरोचन ने ब्रह्मविद्या सीखने के लिए प्रजापति को गुरु बनाया—'**एकशतं ह वै वर्षाणि मघवा प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास।**'

हिरण्यगर्भं पश्यति जायमानम्···। प्रपा० १०, अनु० १०,

श्वेताश्वतरोपनिषद् के चौथे अध्याय का बारहवाँ मन्त्र भी इसी के अनुरूप है। तीसरे अध्याय में तो स्पष्टतया यह भी लिख दिया गया है कि रुद्र ने ही ब्रह्मा को उत्पन्न किया है—

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं···(३,४)

कौषीतकी ने रुद्र को खुले शब्दों में सभी देवताओं से ज्येष्ठ और श्रेष्ठ बतलाया है—

'रुद्रो वै ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च देवानाम् ।'

केनोपनिषद् की यक्षावतार वाली कथा से यह प्रकट हो जाता है कि इन्द्र की महत्ता रुद्रशक्ति की देन है। वायु और अग्नि के पराजित हो जाने पर देवराज इन्द्र स्वयं यक्ष के पास पहुँचे। पर यक्ष ने इनसे बात-चीत तक न की, अन्तर्हित हो गये। इससे इन्द्र को कड़ी ठेस पहुँची, वे भौचक्के से खड़े रहे। इतने में हैमवती उमा दीख पड़ीं। इन्द्र को अब दिलासा मिला। इन्होंने उमा की करुण-प्रार्थना की। बाद उमा ने अपने उपदेश से इनमें प्रकाश भर दिया। तब वे ब्रह्म को जान सके और इसी नाते वे देवताओं में श्रेष्ठ माने गये क्योंकि सबसे पहिले वही ब्रह्म को जान सके। इस कथा से इन्द्र के उस श्रेष्ठत्व का, जिसका कि प्रतिपादन आपने शतपथ के शब्दों में किया है, रहस्य भी प्रकट हो जाता है—इन्द्र श्रेष्ठ हैं, पर उनकी यह श्रेष्ठता रुद्रशक्ति की देन है।

तैत्तिरीय संहिता के **"नीलग्रीवाय······सहस्राक्षाय"** (४,५,५) मन्त्र में आये 'सहस्राक्ष' शब्द का सायण ने जो अर्थ किया है—**"इन्द्र-मूर्तिधारणेन सहस्राक्षः"**, उससे स्पष्ट हो जाता है कि इन्द्र रुद्र की ही एक अभिव्यक्ति हैं, उन्हीं का अंश; तब वे रुद्र से महान् कैसे हो सकते हैं ?

अतः यह नहीं कहा जा सकता कि वेद ने रुद्र को इन्द्र से पीछे ठहराया है।

शतपथ ने पुरुषसूक्त को विष्णु का सूक्त बतलाया है। पुरुषसूक्त से पता चलता है कि वह विराट्, जिसकी प्रसूति इन्द्र हैं, स्वयं विष्णु से प्रकट हुआ है। इससे विष्णु और इन्द्र के व्यक्तित्व पर पूरा पूरा प्रकाश पड़ जाता है। किन्तु इस सूक्त में विष्णु का अधिदैवत्व स्पष्ट नहीं है। यजुर्वेद के एक दूसरे मन्त्र से यह निर्णीत हो जाता है कि इन्द्र को विष्णु की सहायता अपेक्षित रहती है—

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे।
इन्द्रस्य युज्यः सखा (६, ४)

इस तरह इस विषय में वेद और पुराण की एकवाक्यता स्पष्ट है। पुराणकार को आखिर इन्द्र से द्वेष ही क्या था, जो उनको उनके पद से च्युत कर देते ?

शिव के मोह का रहस्य वही है जो केनोपनिषद् में इन्द्रादि के मोह का

शिवजी के सम्बन्ध में आगे आपने लिखा—"उनके मूर्ख भक्त उनको भी ले डूबे। एक स्त्री को देखकर शिव, जो काम को भस्म करने की क्षमता रखते थे, पागल हो गये और उनकी सारी योगविभूति उनको यह न बतला पायी कि वह विष्णु-रचित मायामयी पुतली है।"

जीवन का चरम लक्ष्य है—ईश्वरावाप्ति। इसीलिये पहिले के ऋषि-कुमारों के कण्ठों से मैत्रेयी के शब्दों में **"येनाहं नामृता स्याम किमहं तेन कुर्याम्"** की शत-शत ध्वनियां फूटी हैं। उपनिषद् ने बड़े ज़ोरदार शब्दों में चेताया है कि इसी जन्म में ईश्वर का साक्षात्कार कर लो, नहीं तो महाविनाश का सामना करना पड़ेगा—**"इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति नो चेदवेदीदथ महती विनष्टिः।"**

यह सब होते हुए भी दृश्य जगत् से ही सर्वथा साथ होने के नाते हमसे ईश्वर का अपलाप होता ही रहता है। सूर्य, अग्नि, वायु की तेज-

स्विता से चकाचौंध में पड़कर हमारी आँखें उन्हें ही खो देती हैं, जिन्हें एक क्षण के लिये भी खोना नहीं चाहिये। शिव-मोहिनी की कथा हमारी इन्हीं खोयी आँखों में ज्योतियाँ भरती है, बतलाती है कि इन देवताओं से परे भी एक ऐसी सत्ता है जो अबाधित सत्य है और जिस पर लोक-प्रभु देवताओं का कोई प्रभुत्व नहीं चलता—

अपि व्यपश्यस्त्वमजस्य मायां परस्य पुंसः परदेवतायाः।
अहं कलानामृषभो विमुह्ये यया5वशा5न्ये किमुता5स्वतन्त्राः!
यं मामपृच्छस्त्वमुपेत्य योगात् समासहस्रान्त उपारतं वै।
स एष साक्षात्पुरुषः पुराणो न यत्र कालो विशते न वेदः॥
(श्रीमद्भा० ८,१२,४३–४४)

उनके उस पर प्रभुत्व चलाने की बात तो दूर रही, वे तो उसका अपलाप कर बिलकुल मिट सकते हैं। उस तक जब काल और वेद की भी पैठ नहीं, तब इन देवताओं की कौन बिसात? शिव की महिमा वेद-विश्रुत है, इन्द्र की धाक प्रत्येक मन्त्र स्वीकार करते हैं, सूर्य, अग्नि और वायु प्रत्यक्ष दिव्यविभूतिसम्पन्न हैं; पर इनकी सब विशेषताएँ ईश्वर से हैं, उसी कालकार की प्रेरणा से सभी प्रेरित हैं, उससे ही इनकी सत्ता है और वही इनका लक्ष्य है। मानवों को तो इसी जन्म में उसे पा लेना है, देवता तो वहाँ तक पहुँचने के लिए साधन हैं, वह स्वयं साध्य नहीं। इनके वैभव से विस्मित हो उस लक्ष्य की यादें खो देना मानव-जीवन की सबसे बड़ी भूल है।

इसी अविस्मरणीय आशय को व्यक्त करने के लिये केनोपनिषद ने देवताओं का एक लम्बा इतिहास प्रस्तुत किया है। एकबार देवताओं ने दैत्यों पर विजय पायी, उन्हें गर्व हो आया, ईश्वर को भूल चले। दयामय ने इन्हें पतनोन्मुख देख आँखें देने को सोचा। यक्ष का अवतार धर उनके आगे प्रकट हुए। देवता उन्हें पहिचान न सके। इसके लिये अग्नि को नियुक्त किया गया। अग्नि ने गर्व से यक्ष की ओर देखा और बतलाया

कि 'मैं अग्नि हूँ, दुनिया को भस्म कर सकता हूँ।' यक्ष ने तृण उनके आगे रखा, परन्तु अग्नि उसे जला न सके। वायु उसे उड़ा न सके। इन्द्र तो बातचीत भी न कर सके। यक्ष ने जतलाया कि दैत्य-विजय पर गर्व करने का उन्हें कोई अधिकार नहीं।

केनोपनिषद की तरह पुराण ने भी शिव-मोहिनी का इतिहास उपस्थित कर इसी सत्य का प्रकाशन किया है कि शिवजी को काम-विजय पर गर्व करने का कोई अधिकार न होना चाहिये था। गर्व के घेरे में आकर जब अग्निदेव तृण तक नहीं जला सकते, वायुदेवता उसे उड़ा तक नहीं सकते, तब काम-विजय जैसे कठिन काम की तो बात ही दूसरी ठहरी।

प्रकृत कथा में दो बातें ध्यान देने की हैं—एक तो यह कि विष्णु से यहाँ परब्रह्म का ग्रहण है, देव का नहीं; और दूसरी यह कि शिवपद यहाँ देववाचक है, परब्रह्म परक नहीं। वह परमात्मा हैं—

(क) तत्सत्यं ब्रह्मचिद्भवान् (श्रीमद्भा० ८,१२,५)

(ख) त्वं ब्रह्म पूर्णममृतं विगुणं विशोक-
मानन्दमात्रमविकारमनन्यदन्यत्।
विश्वस्य हेतुरुदयस्थितिसंयमाना
मात्मेश्वरश्चतदपेक्षतयानपेक्षः॥

(श्रीमद्भा० ८,१२,७-८)

और यह देवता—

(क) सुरसत्तम (श्रीमद्भा० ८,१२,१६)

(ख) विबुधश्रेष्ठ (श्रीमद्भा० ८,१२,३८)

और तब इस कथा का प्लाट (Plot) ठीक वही हो जाता है, जो केनोपनिषद में इन्द्रादि की कथा का है। दोनों में जो थोड़ा सा अन्तर है, वह यह है कि उपनिषद के इन्द्रादि घोर गर्वीले बन चुके थे और पुराण के शिव में थोड़ा सा आंशिक गर्व था, जो "स्मयन्" और "कौतूहल"

पद से व्यक्त हो रहा है। उपनिषद के कथा-नायक ईश्वर की सत्ता का अपलाप कर चुके थे, किन्तु शङ्कर जी में इस अपलाप की थोड़ी-थोड़ी जड़ पड़ रही थी। इसीलिये अग्नि आदि ने पराजय पाकर, यक्ष के जतलाने पर, भी ईश्वर की ओर न मुड़े और शङ्करजी ने कुछ देर बाद बिना ईश्वर के संकेत पाये ही उन्हें पहिचान लिया—"**अथावगतमाहात्म्यः**" (**श्रीमद्भा० ८,१२,३६**)। इन्द्र को उस ब्रह्म के जानने के लिये उमा का आश्रयण लेना पड़ा, किन्तु शिवजी ने आप ही उन्हें जान लिया। यह काम केवल शङ्कर का था, अतएव स्वयं परमात्मा को इनकी सतर्कता की प्रशंसा करनी पड़ी—

दिष्ट्या त्वं विबुधश्रेष्ठ स्वां निष्ठामात्मना स्थितः।
यन्मे स्त्रीरूपया स्वैरं मोहितोऽप्यङ्ग मायया॥

(**श्रीमद्भा० ८,१२,३८**)

हाँ, तो अब यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि पुराण ने शिव-शक्ति का अपमान नहीं किया। परमात्म-शक्ति के आगे जब सबों को सभी शक्तियां खो ही देनी पड़ती हैं, तब शङ्करजी उनसे कैसे सफल प्रतिस्पर्धा करते? बाजीगर के इशारे पर नाचनेवाली कठपुतली बाजीगर से क्या प्रतिस्पर्धा करे, कैसे करे; जब कि वह जानती है कि उसका सभी उछल-कूद बस बाजीगर की देन है?—

उमा दारु-योषित की नाईं। सबहिं नचावत रामगुसाईं॥
ईशस्य हि वशे लोको योषा दारुमयी यथा।

(**श्रीमद्भा० १,६,७**)

यदि बाजीगर के इशारे से वह कुछ अनुचित प्रदर्शन कर सकी तो उसे लज्जा क्यों होगी? वह जानती है कि इस प्रदर्शन के खिलाफ वह हो नहीं सकती, होकर कुछ कर भी नहीं सकती। स्वयं शङ्करजी को, जबकि वे माया से छूटे और प्रकृतिस्थ हुए, अपने इस कृत्य पर न तो कुछ

लज्जा हुई न आश्चर्य। क्योंकि वे ईश्वर की इस "कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं" की अप्रतिहतता को समझते थे—

अथावगतमाहात्म्य आत्मनो जगदात्मनः।
अपरिज्ञेयवीर्यस्य न मेने तदुहाद्भुतम्।
तमविक्लवमव्रीडमालोक्य मधुसूदनः॥

दुनिया के आगे इन्द्रादि की कथा रखने में जैसे वेद का यह आशय नहीं कि वह उनका अपमान करे, उसी तरह पुराण शिव–मोहनी की कथा उपस्थित कर उन्हें लाञ्छित नहीं बनाते।

ऋषि-पत्नियों के पास शङ्कर जी के जाने का रहस्य

शङ्कर जीके आचरण पर दूसरा आक्षेप यह है कि "ऋषि-पत्नियों के सामने वह निर्लज्जों की भाँति नङ्गे होकर नाचते रहे।"

पुराण के लेख से पता चलता है कि शङ्कर जीने ऋषि–पत्नियों की परीक्षा की नीयत से अवधूत का वेष बनाया था। कोई बुरी भावना लेकर वह वहाँ नहीं गये थे, क्योंकि उस अवसर पर पार्वती आदि सारा परिवार उन के साथ था। वहाँ उनके आचरण पर धब्बा लगाने वाली कोई बात नहीं लिखी गयी है।

विष्णु ने वृन्दा को पतित नहीं, वरन सदा के लिये उन्नत बना दिया

आगे यह सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है कि पुराण ने विष्णु को गिरा दिया है–"विष्णु के भक्तों ने उनसे पतिप्राणा निर्दोष वृन्दा के सतीत्व को नष्ट कराके ही चैन पाया।"

विष्णु-वृन्दा की कथा में एक अन्तरित रहस्य है। उसकी जानकारी न रहने से इस प्रश्नका उत्थान होता है। उस के रहस्य के उद्घाटित हो जाने पर यह साफ़-साफ़ पता चल जाता है कि कैसे वृन्दा का पातिव्रत

भङ्ग हुआ और नहीं भी हुआ; कैसे विष्णु परस्त्रीगामी न हुए। ऊपरी दृष्टि से तो बड़ा विरोध दीखता है, पर धीरता से तल तक पैठा जाय तो सन्देह की जड़ ही कट जाती है।

पहली बात यह है कि सुदामा नाम का गोप, जो की कृष्ण का निजी अंश था, रासेश्वरी राधाजी के शाप से शङ्खचूड़ बना था। वृन्दा उसी की पत्नी थी—

सुदामा नाम गोपश्च श्रीकृष्णांशसमुद्भवः।
साम्प्रतं राधिकाशापाद्दनुवंश-समुद्भवः॥
शङ्खचूडेति विख्यातः.........................।

(**दे० भा० ९,१७,२८–२९**)

इस दृष्टि से श्री विष्णु और शङ्खचूड़ में कोई तात्विक भेद नहीं है।

दूसरी बात यह है कि लौकिक-पिता पिता, लौकिक-भ्राता भ्राता, लौकिक-पति पति होते हैं। परन्तु परमात्मा परम पिता, परम भ्राता और परम पति होते हैं—"**पतिं पतीनाम्**" (श्वे० उ० ६, ७)। अर्थात् माता, पिता, गुरु, पति यह सभी परमात्मा के ही फोटो होते हैं। परमात्मा अदृश्य हैं अग्राह्य हैं। अतः उनकी पूजा उनकी प्रतिच्छाया (माता, पिता, गुरु पति) की पूजा से ही संभव है। इस प्रतिच्छाया की पूजा तभी तक हमें करनी पड़ेगी जब तक कि साक्षात् परमात्मा हमें नहीं मिल जाते। परमात्मा के साक्षात्कार हो जाने पर उन्हीं की पूजा होती है, तब फोटू की पूजा अपेक्षित नहीं। हमारा लक्ष्य फोटो नहीं, फोटोवाला होना चाहिए। इसीलिए सन्त तुलसीदास ने लिखा है कि जो फोटो फोटोवाले

१—जाको प्रिय न राम वैदेही,
तजिय ताहि कोटि वैरी सम यद्यपि परम सनेही।
तजेउ पिता प्रह्लाद, विभीषण वन्धु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कन्त व्रजवनितनि भे सब मंगलकारी।

के खिलाफ पड़ता है उसे छोड़ देना ही धर्म है, दृष्टान्त में उन्हों ने बहुत से महापुरुषों को रखा है। प्रह्लाद के पिता यद्यपि पितारूप में परमात्मा के फोटो थे, पर उनने परमपिता परमात्मा से प्रह्लाद को वञ्चित रखना चाहा अतः प्रह्लाद पिता का परित्याग कर परम पिता की ओर बढ़ गये।

भरत अपनी माता को साक्षात् ईश्वर समझते थे परन्तु जब उनकी माता परम-माता परमात्मा के प्रतिकूल पड़ने लगी, तब भरत ने तुरन्त ही उस फोटो को त्याग दिया और अपनी परम माता की ओर बढ़ गये। इसीतरह तत्त्वदर्शी गोपियों ने जब देखा कि हमें साक्षात्परमपति मिल रहे हैं, तब उनसे उनकी प्रतिच्छाया लौकिक-पति की उपेक्षा हो गयी। जिनकी प्राप्ति के लिए उन लोगों ने जन्म-जन्मान्तर में कठोर से कठोर साधनाएँ कीं, वे परमाराम आत्माराम जब मिल गये, तब फोटो के पूजन रूप साधन की क्या आवश्यकता रह गयी थीं ? साधन की सार्थकता साध्य की प्राप्ति में है, पथ को सार्थकता लक्ष्य पर पहुँच जाने में है, साधन ही तो साध्य नहीं पथ ही तो लक्ष्य नहीं ? लक्ष्य की प्राप्ति कर लेने पर पथ हमसे छूट ही जाता है—"**या दुस्त्यजं श्रुतिभिरार्यपथं हि हित्वा भेजे मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्।**"

यदि हम पथ में ही चिपटे रहें, अपने लक्ष्य की याद तक खो दें, तो यह हमारी सब से बड़ी ना समझी होगी। फोटोवाले को भुलाकर फोटो को ही सब कुछ समझना ज़रूर भूल से भरा है, वृन्दा से यही भूल हुई थी। वह अपने पति में इतनी उलझ गयी थी कि परमपति की कभी याद भी उसे न आती थी। उसने अपने चारो ओर वह वातावरण बना रखा रखा था कि जिसमें "**प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥**" के मधु पथ-गीत का प्रतिफलन ही नहीं हो पाता था। उसकी आँखें इतनी लोक की पक्षपातिनी बन गयी थीं, कि दिव्य रूप रेखाओं को वह देख ही नहीं पाती थीं। वृन्दा में सब कुछ था पर गोपियों की तरह जागरूकता न थी। इसी नाते अपने दरवाजे पर आये अपने

परमपति को वह परपति ही देखती रही; बड़ी भोली बन गयी थी ?

किसी पति-प्राणा के पतिदेव बहुत दिनों से परदेश चले गये थे। वह उनके बिना जी नहीं सकती थी अतः उनके फोटो से ही अपना सारा समय उलझाने लगी।, उसी से हँसती, बोलती, खेलती; इतनी उसमें उलझी कि असली पति को ही भूल चली। बहुत दिन पीछे उसके पति उसके दरवाज़े पर आये। पर वह बेसुध औरत उस फोटो से इतना तादात्म्य कर बैठी थी कि उसके दिमाग़ से असली पति ही हट चुके थे। वह फोटो से बोलती, उसे चिपटाये फिरती, पर परदेश से आये पति की ओर निहारती भी न थी। बहुत देर बाद जब उसे होश हुआ, उसने फोटो को दूर फेंक दिया। अब फोटो की क्या अपेक्षा रह गयी थी ?

वृन्दा भी परम पति के फोटो में इतनी तल्लीन हो चुकी थी कि परमपति की ही अवहेलना करने को उतारू हो गयी; परन्तु बाद में जब वह परमपति को पहिचान सकी, तब उसकी खुशी का कोई आर-पार न रहा। भगवान की इस दयालुता का वह कितनी दाद देती होगी, इसका ठीक-ठीक अनुभव तो उसका आभारी हृदय ही करता होगा ? वृन्दा की सब बाधाएँ ही मिट गयीं; जीवन की चिर साधें पूरी हो गयीं। अनन्त युग आते-जाते रहेंगे, पर उसके इस चिर-सम्मिलन का कभी अवसान न होगा ! दुनिया उसकी विस्मापक कहानी सुनती ही रहेगी।

अभी एक सवाल और खड़ा है; पूछा जा सकता है कि जब विष्णु वृन्दा के असली पति थे तब उसका पातिव्रत-धर्म ही कैसे भङ्ग हुआ ?

बात यह है कि वृन्दा की दृष्टि शङ्खचूड़ को ही, जो वास्तविक पति का केवल फोटो था, पतिरूप से देखती थी, परमपति उससे ओझल थे। परमपति को भी यह परपति समझती रही; अतः उसकी दृष्टि से उसका वह पातिव्रतधर्म भंग हुआ, जो दुनिया के लिये मृत्युदूत बन बैठा था।

अब, दृष्टि-दोष से वस्तुस्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता, इस सिद्धान्त के आधार पर यह प्रश्न उठता है कि जैसे पाण्डु रोग होने पर

हमारी दृष्टि चन्द्रमा को पीला बतलाती है किन्तु इसी नाते चन्द्रमा पीले नहीं हो जाते, वैसे ही वृन्दा की दृष्टि में थोड़ी देर के लिये विष्णु भले ही परपति थे पर वस्तुतः जब परपति न थे, तब वृन्दा का पातिव्रत-धर्म भङ्ग ही कैसे हुआ ?

प्रश्न यथार्थ है, नीले शीशे को माध्यम बना जब हमारी दृष्टि दुनिया को नीली बतलाती है, तब यह ठीक है कि दुनिया नीली नहीं हो जाती, वस्तु स्थिति में अन्तर नहीं पड़ता। परन्तु मैं कहूँगा कि प्राकृत-पदार्थ में ही इस सिद्धान्त की यथार्थता है, परमात्मा के लिये तो बस भावनामयी दृष्टि की ही यथार्थता है। भला भगवान् किसके शत्रु, मित्र या उदासीन हैं ? जिनकी दृष्टि उनके प्रति जैसी होती है, परमात्मा भी उनके लिये उसी रूप में हो जाते हैं। यदि एक आदमी अपनी भावना को माध्यम बना भगवान को काली के रूप में देख सकता है, तो दूसरा अपनी भावना के माध्यम से उन्हीं भगवान् को कोमल, कविकल्पना से भी कोमल कृष्ण रूप को निरख सकता है। हमारी दृष्टि के अनुसार ही यहाँ वस्तुस्थिति बदलती रहती है—

जाकी रही भावना जैसी।
प्रभु मूरति देखी तिन तैसी ॥

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्,
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनाम्,
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः ॥ श्रीमद्भा-
गवत्, १०, ४३, १७।

प्रकृत में वृन्दा की सङ्कुचित दृष्टि जब तक उन्हें परपति परखती रही, तब तक उसका पातिव्रत-धर्म भग्न माना गया और जब उसकी दृष्टि उदार बन गयी, तब उसका वह पातिव्रत-धर्म भग्न न हो तरक्की कर गया; गोपियों के पातिव्रत-धर्म की तरह परम-पातिव्रत-धर्म बन गया।

आशय यह हुआ कि विष्णु के इस चरित्र में वृन्दा का पातिव्रतधर्म नष्ट न हुआ, वरन् परम पातिव्रत धर्म बन गया; निर्दोष वृन्दा की हत्या न की गयी, वरन् बेचारी वृन्दा की बेबसी सदा के लिये सुला दी गयी। असंख्य पतिव्रताओं का लुटता हुआ पातिव्रत धर्म बचा। दुनिया के अमङ्गल का धूमकेतु मिट गया। स्वयं शंखचूड़ को शाप से छुटकारा मिला।

बुद्ध का धर्मसंरक्षण

विष्णु के सम्बन्ध में दूसरा प्रश्न यह है—"जब और कुछ न बन पड़ा तो असुरों को हराने के लिये विष्णु ने बुद्ध रूप से उस वेदसम्मत कर्मकाण्ड की निन्दा का बीड़ा उठाया जिसका कभी स्वयं उन्होंने प्रतिपादन किया था।"

किसी भी वस्तु की उपयोगिता का अन्दाज़ा हमें अधिकारियों से ही मिलता है। अनधिकारियों के हाथों में पड़कर तो उचित वस्तु भी हानिकारक सिद्ध हो जाती है। अन्न दुनिया के लिए कितनी अपेक्षित वस्तु है ? सभी प्राणी इसीसे उज्जीवित हो अपनी-अपनी हरकतों से दुनिया को प्रगतिशील रखते हैं। वेद ने अन्न को 'ब्रह्म' कहकर सम्मान दिया है—**"अन्नं ह वै ब्रह्म"**। परन्तु यही अन्न जब अनधिकारियों के हाथ में पहुँच जाता है, तब इसका केवल मारक-रूप ही दुनिया के आगे प्रगट होता है।

वर्गीकरण की दृष्टि से अनधिकारियों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(क) घोर ना समझ, (ख) कुछ समझदार, (ग) उस कुछ समझदारी को व्यावहारिक रूप देनेवाले।

(क) घोर अनधिकारियों को तो केवल एक ही आँख होती है, जिस समय वे किसी वस्तु में गुण देखने लगते हैं, उसके अवगुण को बिल्कुल नहीं देखते और यदि अवगुण दीख गया, तो उनकी दृष्टि से उस वस्तु में गुण का अत्यन्ताभाव रहता है। उनमें वह विवेचनाशक्ति

नहीं होती, जिसके बल पर किसी वस्तु का गुण एवं अवगुण दोनों एक साथ हमारे सामने आते हैं और जिन्हें परख हम वह उपाय ढूँढ़ते हैं, जिससे उस वस्तु का शिवरूप ही हमारे सामने रहे। आज ऐसे बहुत से नासमझ मिलेंगे, जो अन्न को केवल शिवरूप देखने के ही आदी हैं। अन्न का अधिक सेवन हमें मार डालेगा, इसकी भावना भी उनमें नहीं जमती।

(ख) दूसरे प्रकार के अनधिकारी जब मिथ्याहार का कटुफल पाते हैं, तब अन्न के गुण के साथ अवगुण को भी परखते हैं और उचित मात्रा तथा उचित काल में अन्न-सेवन का मूल्य भी आँक लेते हैं, पर घनी जड़ता के कारण वे अपने इस समय को व्यावहारिक-रूप नहीं दे पाते बीमार पड़ने पर यह समझ रहते हुए भी कि इस समय अन्न का ग्रहण ठीक नहीं, वे उसे खा ही लेते हैं और तब अन्न का मारक-रूप ही दुनिया के आगे रखते हैं।

(ग) तीसरे अनधिकारी अन्न के गुण एवं अवगुण के परखने तथा उसके उचितकाल एवं उचित मात्रा के मूल्य समझने के साथ-साथ वैसा व्यवहार भी करते हैं। वे उस हालत में अन्न न खायेंगे जब समझेंगे कि इस समय का अन्न हमारे लिये घातक बन जायगा। असुर लोग इसी कोटि के अनधिकारी हैं। उन्हें अनधिकारी इसी लिए कहा जाता है कि अन्न सम्बन्धी इनकी उतनी ही विवेचना पूर्ण नहीं होती। इनकी आँखें अन्न को सजीव एवं यज्ञीय पदार्थ के रूप में नहीं देख पाती। यही कारण है कि उनका चरम ध्येय स्थूल शरीर का पोषण ही रहता है, ईश्वर, परलोक और आन्तरिक शरीर की ओर उनकी दृष्टि बिल्कुल नहीं जाती। और इसी लिए वे प्रजा के समग्र अन्न को, उसकी सुख-सामग्री को, उनके दुर्बल हाथों से छीन लाते हैं। फल यह होता है कि एक तरफ शोषित जनता दाना-दाना के लिए मुहताज़ हो जाती है, और दूसरी तरफ अन्न की ढेर जला दी जाती है। असुरों के हाथों में जाने से अन्न

का केवल मारक-रूप ही दुनिया में प्रकट होता है, जनता मरती है, सृष्टि की मूलशक्ति देवता निर्बल पड़ जाते हैं, स्वयं असुर भी मोह में पड़कर अपने ही हाथों अपने भविष्य की हत्या कर लेते हैं।

और अधिकारी के हाथों में पड़कर अन्न केवल शिव-रूप को प्रकट करता है। अधिकारी अपनी विवेचना की आँखों से देख लेते हैं कि अन्न दुनिया के लिए पूर्ण सञ्जीवन तब बन सकता है, जब उचित मात्रा और उचित काल के साथ-साथ ब्रह्मयज्ञ पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ, और भूतयज्ञ, इन पाँच यज्ञों से अवशिष्ट अन्न का सेवन किया जाय। यदि केवल मात्रा और काल का खयाल रखा जाय, तब यह तो ठीक है कि स्थूल शरीर का सुन्दर संघटन होगा पर आन्तरिक शरीर तो पापों के धुओं से बिलकुल काला और कमजोर पड़ जायेगा ; हम इस लोक की यात्रा तो शायद निभा लेंगे, पर परलोक के लिए तो हमारे पास कुछ भी पाथेय न बच रहेगा ; बल्कि उसका पथ तम और कण्टक से आकीर्ण कर लेंगे।

क्योंकि इन पाँच यज्ञों के किये बिना केवल स्थूल शरीर के पोषण के लिए अन्न का खाना घोर पाप है—

(क) नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादः
(ऋ० १०, ११७, ६)

(ख) अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्
(मनु० ३। ११७)

(ग) अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति
(श्रीमद्भग० ३, १६)

(घ) ब्रह्मणा तु पुरा सृष्टा ओषध्यः सर्ववीरुधः।
यज्ञार्थं तत्तु भूतानां भक्ष्यमित्येव वै श्रुतिः॥
दिव्यो भौमस्तथा पैत्रो मानुषो ब्राह्म एव च।
एते पञ्च महायज्ञाः ब्रह्मणा निर्मिता पुरा॥
एवं कृत्वा नरो भुक्त्वा तस्माद् वान्नं विशुद्ध्यति।

अन्यथा व्रीहयोऽप्येत एकैक मृगपक्षिणः ॥
मन्तव्या दातृभोक्तृणां महामांसं तु तत्स्मृतम् ।
(स्कन्दपुराण, माहेश्वर खण्ड)

अन्न को इन यज्ञों में लगाने वाले अधिकारियों की दृष्टि बड़ी ऊँची हो जाती है। इन्हें देवता, पितर, मनुष्य, एवं प्राणिमात्र की तृप्ति करने में ही अपने अन्न की चरितार्थता स्पष्ट दीखती है और वह इसी के आदी बन जाते हैं। वह अन्न के कुछ कण में ही, तत्तन्मन्त्रों से वह बल भर देते हैं, जिससे सारी दुनिया की अनन्त भूख-प्यास का अन्त हो जाता है। यज्ञ से बचा अन्न अपने मारक-रूप को बिल्कुल खो देता है और अमृत से भी ज्यादा शिव रूप में अपने को प्रकट करता है।

यही है अन्न के सम्बन्ध में समग्र विवेचना !

पर असुर की दृष्टि इधर नहीं पहुँचती, अतएव वे इस अन्न से केवल स्वार्थ ही साधते हैं, पर अनेक उपायों से वह तो सधता नहीं, उलटे सारी दुनिया ध्वंस के पथ पर वेग से बढ़ चलती है। उनके इस उग्र स्वार्थ की पूर्ति में, साधारण जनता को बलिदान होना पड़ता है।

इस अवसर पर इन अनधिकारियों के हाथ से अन्न को छीनकर यदि कोई उचित विभाजन कर दे तो क्या यह अनुचित होगा ? बल्कि ऐसा कर वह सारी दुनिया की सूखी तड़पती आत्मा में जिन्दगी ही भरेगा। ऋग्वेद में आया है कि भगवान् विष्णु उन शोषकों के धन का अपहरण कर लेते हैं—

मुषायद्विष्णुः पचतं सहीयान् (ऋ० वे० १,६१,७)

सृष्टि के पालन की जिम्मेवारी विष्णु पर है। वे प्रत्येक प्राणी तक अधिकारानुसार अन्न पहुँचा देते हैं, ताकि सब का पोषण होता रहे। पर अनधिकारी जब उस पोषक अन्न को शोषक रूप दे देते हैं, असहाय, निरपराध, प्राणियों का रक्त चूसते हैं एवं अपने पतन का गर्त आप ही खोदते हैं, तब विष्णु उनके अन्न का अपहरण कर लेते हैं। समझदार की

आँखें स्पष्ट देख सकती हैं कि विष्णु का यह अपहरण पालन का ही दूसरा नाम-रूप है।

भगवान् विष्णु अन्न की तरह कर्मकाण्ड को भी सृष्टि का पोषक समझ कर ही इसके करने के लिए आदेश देते हैं। पर अनधिकारी जब अन्न की तरह कर्मकाण्ड का भी दुरुपयोग करने लगते हैं; असहाय पशुओं की और अनजान में अपनी हत्या आप ही करने लगते हैं; तब वही विष्णु उसी पालन के उद्देश्य से, बुद्धरूप में उनकी उन दुर्बुद्धियों का अपहरण कर लेते हैं। वेद ने विष्णु के लिए अनुचित धन का अपहरण बतलाया और पुराण ने अनुचित बुद्धि का; तो इससे पुराण की ज्यादती कैसे प्रकट होती है?

कर्मकाण्ड केवल द्विजातियों की चीज़ है, यह इससे उन्नत हो सकते हैं; पर शूद्रादिकों का इधर झुकाव अधर्म है, इससे उनका केवल पतन ही होगा यह कोई ज़रूरी नहीं है कि जो वस्तु एक के लिए हितकर है, वह सभी के लिये हितकर ही हो। भात से मनुष्य का अवश्य पोषण होता है, पर गौ यदि केवल इसी का आहार करे तो उसके लिये वह अवश्य मारक सिद्ध होगा। इसी तरह पशुओं के पोषक तृण—बुसादि, मनुष्यों के लिये अवश्य ही शोषक बन जाँयगे इसी लिये भगवान् विष्णु अन्न का वितरण भी अधिकारानुसार करते हैं। इसी तरह कर्मकाण्ड का शिवरूप द्विजाति में ही प्रकट होता है, इनके उन्नायक होने के नाते विष्णु ने इसका प्रतिपादन और प्रशंसन किया है। शूद्रादिक इसके अधिकारी नहीं, अतः कर्मकाण्ड उनके लिये पातक ही बनता है, अतः इस अंश में कर्मकाण्ड की निन्दा भी सत्य ही है।

बुद्ध के आविर्भाव के पहले कर्मकाण्ड के प्ररोचक वाक्यों से सभी अनधिकारी इस ओर झुक गये थे।

असहाय पशुओं का करुण-क्रन्दन जगत् के अणु-अणु में प्रतिध्वनित हो उठा था। उन अनधिकारियों में ऐसे ही बहुत थे, जिनकी एक ही

आँख होती है। वे या तो कर्मकाण्ड को अमृत-रूप में देखना चाहते थे अथवा बिलकुल विषरूप में। बुद्धदेव ने ऐसे लोगों के कल्याण के लिए कर्मकाण्ड का विषरूप ही उनके आगे रखा और उस परम-पथ का निर्देश किया जिसकी याद भी उन दिनों किसी को न थी। सारी दुनिया को मृत्यु के मुख से निकाल लिया।

इसके पहले, जब कि विष्णु राम बने थे, एक अनधिकारी तपस्या में लग गया था; उसके इसी एक अधर्म से राम-राज्य में अकाल-मृत्यु की पैठ हो गयी थी। राम ने दुनिया और स्वयं शूद्रक के कल्याण के लिए उसको मृत्युदण्ड दिया। बुद्धदेव के आविर्भाव के पहले तो सभी लोग शूद्रक से भी ज्यादा जड़ बन गये थे। बुद्धदेव ने इन घोर नासमझ अनधिकारियों के लिये कर्मकाण्ड का मारक रूप ही रखना उपयुक्त समझा। सबकी हत्या क्यों करते, उनकी दुर्बुद्धि का ही हनन कर दिया?

विष्णु ने स्वयं प्रतिपादित कर्मकाण्ड की बुद्ध-रूप से जो निन्दा की है, उसका तात्पर्य ऊपर की पङ्क्तियों से निकल आता है, फिर भी स्पष्टता की दृष्टि से लिखा जाता है।

अन्न का शिवरूप स्वस्थों के लिए है पर बीमारों के लिये क्या यह अशिव नहीं बन बैठता? बीमार अन्न न खा डालें इसके लिए बड़ी जरूरत है कि उनके आगे अन्न का घातक-रूप ही रखा जाय। यदि इस अवसर पर कहा जाय कि अन्न न खाओ, इसके खाने से मर जाओगे, इसे विष ही समझो; तो अन्न की इस निन्दा में, जो एकदेशी दृष्टि से है, तथ्य का ही हाथ है। कर्मकाण्ड अधिकारी के लिए अमृत-रूप है, इस अंश में इसकी प्रशंसा की गयी, पर जब अनधिकारियों के लिए वह मारक सिद्ध होता है तब उस अंश में उसकी निन्दा कभी अनुचित या असत्य नहीं। बुद्धदेव ने उन नासमझ अनधिकारियों के आगे कर्मकाण्ड का यही एकदेशी रूप रखा है, जो न वेदविरुद्ध है और न युक्ति-विरुद्ध। विष्णु ने केवल बुद्धरूप में ही कर्मकाण्ड की निन्दा की हो,

ऐसी भी बात नहीं, इसके पहले ही वेदवाणी से उन्होंने इसकी आंशिक निन्दा की है—

(क) प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोत्तरमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो योऽभिनदन्ति मूढाः॥ (मु० उ० ७)

(ख) अविद्यायामन्तरे विद्यमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः। जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥ (मु० उ० ८)

(ग) अविद्यायां बहुधा वर्तमाना स्वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।

कृष्णावतार में भी उनने इस आवाज़ को उठाया है—

(क) यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ! नान्यदस्तीति वादिनः॥
(श्रीमद्भ० गी०, २,४२,)

(ख) त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन!
(गीता)

फिर उद्धव से भी इन्हीं बातों को दुहराया—

(ग) परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम्”
(श्रीमद्भाग० ११,३,४४)

अतः बुद्धदेव ने यदि कर्मकाण्ड के इस अंश को उन अनधिकारियों और उच्चाधिकारियों के आगे रखा, तो क्या बेजा किया? उनके कल्याण के लिए केवल इसी अंश को रखना उचित था। वेद और श्रीकृष्ण की तरह उन्होंने कर्मकाण्ड का जो शिवरूप न रखा, उसका कारण अनवसर था।

कृष्ण के समय ऐसे अनधिकारी न थे अतः कर्मकाण्ड का प्रशंसात्मक रूप भी उन्होंने उनके आगे रखा—

(क) वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः (गीता)

(ख) कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा ॥

(श्रीमद्भा०)

इसी तरह वेद ने भी कर्मकाण्ड की निन्दा और प्रशंसा दोनों का प्रदर्शन कर उसका समन्वय कर दिया है—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते (ईशोपनिषद्)

कहने के बाद ही तुरन्त ही—

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते (ईशोपनिषद्)

कह दिया। बुद्धदेव ने ऐसा इस लिये नहीं किया कि उन दिनों अधिकांश में पहली कोटि के अनधिकारी थे। यदि वे ऐसा करते तो उन नासमझों का उद्धार ही सम्भव न था।

बुद्ध से मेरा मतलब अजनसुत से है, शुद्धोदनसुत गौतम से नहीं। हाँ, जब पीछे कुछ अनधिकारी बौद्धों ने वेदमार्ग को ध्वस्त करना चाहा तब तुरन्त, शंकराचार्य्य के रूप में उन्होंने कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड का समन्वय कर दिया, उन की दुर्बुद्धि का फिर से अपहरण किया।

'बालि का वध अन्याय नहीं'।

आपने लिखा "स्वयं भगवान् ने बालि को धोखे से और जरासन्ध, दुर्योधन तथा मुचकुन्द को धोखे से मरवाया।

राम के राज्य में बालि अपराधी था। भगवान् राम को बालि के लिये उसके पाप का दण्ड देना था, उससे युद्ध करना नहीं। वह अपराधी था प्रतिद्वन्द्वी नहीं। दण्डविधान और युद्धधर्म दोनों दो चीजें हैं। छिपकर मारना युद्ध के लिए अधर्म है, पर दण्डविधान के लिए नहीं। युद्ध के धर्म से तो निःशस्त्र को मारना मना है, पर दण्ड देते समय इसका कोई मूल्य नहीं। यदि कोई राजा अपने अपराधी को बिना अस्त्र दिये मरवा देता है, तो क्या कहा जायगा कि राजा ने धोखे से अपराधी को मारा ?

जरासन्ध और दुर्योधन आततायी थे, विश्वशान्ति के धूमकेतु थे। दुष्टों के दमन के लिए अवतरित भगवान् ने उन्हें मृत्युदण्ड दिया! जो मायावी हैं, दस्यु हैं, उनके वध के लिए युद्ध का वही धर्म नहीं लागू होता, जो धार्मिक योद्धाओं के लिये होता है। वेद की स्पष्ट वाणी देखिये—

"वृजनेन वृजिनान् संपिपेष मायाभिर्दस्यूनभिभूत्योजाः"

(अथर्व० २०, ११, ६,)

बालि, जरासन्ध, तथा दुर्योधन दस्यु थे, उन्हें वृजिन से मारना उचित ही है, अन्याय नहीं। स्त्री भी आततायी हों तो, उन्हें मार देना इस नियम से अन्याय नहीं। अतएव इन्द्र से प्रार्थना की गयी है कि हे इन्द्र! जितने स्त्री, पुरुष, यातुधान हैं, उन्हें नष्ट कर डालो—

"इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुतस्त्रियम्"

(अथर्व० ८, ४, २४,)

इस तरह यह तय होता है कि आपने पुराणों में जिन्हें कूड़ा-कचरा समझा है, वह सभी वेदों में हैं और तात्त्विक हैं। इससे वेदों और पुराणों की एकवाक्यता तो सिद्ध होती ही है; यह भी सिद्ध होता है कि वेदव्यासजी ने ही इन सब पुराणों को बनाया है; क्योंकि आपने प्रधानतया इसी आधार पर पुराणों के व्यासकृत न होने का दावा किया है।

कलियुग के सम्बन्ध में पुराण की सारी आवाज़ें वेद की ही हैं!

आपने लिखा "हम से कहा जाता है कि आजकल कलियुग है। जहाँ तक यह काल का एक विभाग मात्र है वहाँ तक हमें कुछ कहना नहीं।······परन्तु जो लोग कलियुग की बात करते हैं, वह इस बात के साथ इस बात को भी ध्वनित करते हैं कि यह युग पूर्ववर्ती युगों से बुरा है। उनके कथनानुसार इस युग में अधर्म का प्राधान्य रहेगा इसमें जन्म

लेने वाले मनुष्य इतरयुगीन मनुष्यों की अपेक्षा अल्पायु, अल्पवीर्य, अल्पमेध और अल्पज्ञ होते हैं, उनसे पहले के लोगों की भाँति पुरुषार्थ-सिद्धि नहीं हो सकती, वह यागादि कठिन साधनों का अनुष्ठान नहीं कर सकते। मैं दृढ़ता से कहता हूँ कि यह सारी बातें झूठी, सर्वथा निराधार हैं। मध्ययुगीन संस्कृत में लिखी गयी कुछ अनुष्टुप्‌बद्ध पोथियों में ऐसी बातें मिलती हैं पर उन पुस्तकों को स्वतः प्रामाण्य प्राप्त नहीं है। न तो वेद का मन्त्रभाग ऐसा कहता है न उपनिषद्‌भाग। तर्क और प्रत्यक्ष अनुभव से भी इन बातों का आश्रय नहीं मिलता।"

कलियुग के सम्बन्ध की प्रख्यात धारणायें न तो झूठी हैं, न निराधार, और न केवल मध्ययुग की ही। वेद का मन्त्रभाग, उपनिषद्‌भाग और ब्राह्मणभाग, सभी की आवाज वही है जो पुराणादिकों की। प्रत्येक का क्रमिक एक-एक उदाहरण देता हूँ—

मन्त्रभाग का प्रमाण

(क) ऋग्वेद के यम-यमी-सूक्त में आया कि यमी ने, जो दुनिया के व्यावहारिक ज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ थी, एक बारात जाते देख उसके सम्बन्ध में अपने भाई से जिज्ञासा की। भाई के बतलाने पर उसकी भी इच्छा हुई कि मैं शादी करूँ। उसने भाई से कहा कि हम दोनों एक शयन में सो जायें। यम धर्म और व्यवहार का पक्का जानकार रहा, बोला—"यह अधर्म है कि भाई और बहन आपस में विवाह करें, तू दूसरे को पति बना। आज के युग में तो ऐसा अधर्म नहीं होता, हाँ, कुछ अगले ऐसे युग आवेंगे, जिनमें कुलीन कन्या अकुलीन कन्या की तरह काम करेंगीं, बहिन न बहिनों वाली कार्य करेंगीं"—

"आघाता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि"

(ऋ० वे० १०, १० १०,)

इस मन्त्र से स्पष्ट ही पता चलता है कि पूर्वयुग की अपेक्षा उत्तर युगों में धर्म का ह्रास हो जाता है।

(ख) ब्राह्मण-भाग का, जिससे एक के अतिरिक्त सारी उपनिषदें निकली हैं, प्रमाण

(ख) ऐतरेय ब्राह्मण में एक मन्त्र आया है—

कलिः शयानो भवति सञ्जिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन्॥ (७, १५, ४)

यदि इस मन्त्र का यह अर्थ किया जाय कि कलि सोनेवाला युग है, द्वापर जैसे जँभाई लेता रहता है, त्रेता युग जागरूक रहता है, और सत्य-युग चलता फिरता कर्मशील युग है; तो यह स्पष्ट ही सिद्ध हो जाता है कि कलियुग में अज्ञानालस्यादि का प्राबल्य हो जाता है, अतः यह और युगों की अपेक्षा बुरा युग है।

और यदि इसका दूसरा अर्थ मनुस्मृति एवं सायण के आधार पर यह किया जाय कि—जो आलसी है वह "कलि", कर्तव्यादि की जान-कारी रखते हुए भी जो उसका अनुष्ठान नहीं करता वह "द्वापर", जो कर्तव्यों को विधिवत् जानकर अनुष्ठान में लगता है वह "त्रेता", और जो यथाशास्त्र अनवरत अनुष्ठान करता रहता है वह 'कृत' होता है, तौ-भी यही सिद्ध होता है कि कलियुग ही सब युगों में गया बीता युग है।

१—कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते॥
कलिः प्रसुप्तो भवति संजाग्रद्द्वापरं युगम्।
कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृत युगम्॥"

(मनु० ९, ३०१-३०२)

ऐतरेय ब्राह्मण के प्रकृत मन्त्रों का भाष्य सायण ने यों किया है—

२—"पुरुषस्य चतस्रोऽवस्थाः—निद्रा, तत्परित्यागः, उत्थानं, संच-रणं चेति। ताश्चोत्तरोत्तरश्रेष्ठत्वात् कलि-द्वापर-त्रेता-कृतयुगैः समानाः।"

धर्माधर्म का निर्णय अक्सर इस युग में सब नहीं कर पाते और आलस्य की नशा में सब बेसुध रहते हैं; यही तात्पर्य इस दूसरे अर्थ का भी है।

पूछा जा सकता है कि दूसरे अर्थ से तो जो आलसी मनुष्य है वह कलि है इतना ही आता है, यह तो तात्पर्य नहीं निकलता कि कलियुग बुरा है; इससे तो किसी आदमी की निन्दा हुई युग की तो नहीं ? इसका उत्तर यह है कि यह प्रयोग लाक्षणिक है। जैसे अक्सर हम किसी जड़, मतिशून्य लड़के के लिये कह उठते हैं—'यह मुर्दा है', तो इसका तात्पर्य यही होता है कि यह लड़का मुर्दे की तरह है, जिस तरह मुर्दा हाथ पैर नहीं चलाता उसी तरह यह भी निस्चेष्ट पड़ा रहता है। ऐसे प्रयोगों को 'सदृश लाक्षणिक' कहा जाता है। इसी तरह आलसी मनुष्य 'कलि' है इस कथन का यही तात्पर्य है कि जिस तरह कलियुग मुर्दादिल युग है उसी तरह यह मनुष्य है। आलसी कलि है, इसका सीधा अर्थ है आलसी कलिसदृश है। आलसी को कलि कहने से ही सिद्ध हो जाता है कि कलियुग उस आलसी से ज्यादा गया बीता पदार्थ है। क्योंकि इस लक्षण का लक्षण यही है कि—

वास्तविक-धर्म-प्रयुक्त-सादृश्यमूलक-शक्यतावच्छेदकारोपत्वं सदृशलाक्षणिकत्वम्।

अर्थात् किसी वस्तु की विशेषता को व्यक्त करने के लिये उस विशेषता का पूर्ण आवास किसी वस्तु के धर्म का जब सादृश्य-मूलक आरोप किया जाता है, तब वह सदृश-लाक्षणिक कहलाता है। जैसे किसी मनुष्य की खास विशेषता है—निश्चेष्ट रहना, तो उसको व्यक्त करने के लिये इस निस्चेष्टता का पूर्ण केन्द्र शव के धर्म का उसमें आरोप करते हैं; कहते हैं यह मुर्दा है। इसी तरह वेद ने आलसी व्यक्ति के आलस्य व्यक्त करने के लिये 'कलि' कहा है, तो इसका मतलब ही होता है कि आलसी कलि-सदृश है और यह कि यह युग अधर्म-आलस्यादि का पूर्ण आवास है। मनुस्मृति का भी यही आशय है। युग के खण्डन में उसका तात्पर्य नहीं,

नहीं तो पूर्वापर विरोध[१] होगा।

इस तरह वेद से कलियुग के सम्बन्ध में हमें वही जानकारी मिलती हैं, जो पुराणादिकों से। अतः इस कथन का कि 'न तो वेद का मन्त्र-भाग ऐसा कहता है, न उपनिषद् भाग' कोई मूल्य नहीं।

कलियुग में धर्म के ह्रास का एक उदाहरण

शारीरक भाष्य में शंकराचार्यजी ने लिखा है कि पहिले के लोग आज-कल के लोगों की अपेक्षा अधिक धार्मिक होते थे; इसी से उनका देवताओं से प्रत्यक्ष व्यवहार होता था—

धर्मोत्कर्षवशाच्चिरन्तना देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवजह्रुरिति श्लिष्यते। (शारीरकभाष्य)

मनु ने कलियुग में अधर्म का प्राधान्य माना है। उन्होंने बतलाया है कि सत्ययुग में धर्म के चार पाद होते हैं, त्रेता में तीन, द्वापर में दो और कलियुग में केवल एक—

चतुष्पात् सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे।
इतरेष्वागमाद्धर्मः पादशस्त्ववरोपितः।
चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः॥

(म० स्मृ० १, ८१-८२)

दृष्टान्त में सत्य-धर्म को लें। यदि आलोचनात्मक दृष्टिकोण रखा जाय तो यह स्पष्ट विदित होता है कि इसी एक धर्म में, पहले और आज में बड़ा पार्थक्य आ पड़ा है। छान्दोग्य से पता चलता है कि उन दिनों सत्य के द्वारा चोर या साह की पहिचान की जाती थी। जिस पुरुष पर चोरी का सन्देह होता था, राजकर्मचारी उसे हाथ बाँध कर

१—चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यञ्चैव कृते युगे। इतरेष्वागमाद्धर्मः पादशस्त्ववरोपितः। चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः। मनु० १, ८१-८२

राजद्वार में ले आते थे। न्यायाधीश पूछते थे 'इसने क्या किया है।' तब राजकर्मचारी बतलाते थे कि 'इसने दूसरे का धन चुरा लिया है।' उसके इस प्रकार कहने पर यदि वह पुरुष झूठ बोल उठता था कि 'नहीं, मैंने नहीं चुराया है,' तब उसकी परीक्षा के लिये दहकता हुआ परशु उसके हाथों पर रखा जाता था। यदि वह सचमुच चोर होता था तो सत्य की हत्या के नाते वह जल जाता था, और यदि वह साहु होता था तो उसके हाथों पर आँच तक नहीं लगती थी—

पुरुषँ सोम्योत हस्तगृहीतमानयन्त्यपहार्षीत् स्तेयमकार्षीत् परशुमस्मै तपतेति। स यदि तस्य कर्ता भवति तत एवानृतमात्मानं कुरुते सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स दह्यते अथ हन्यते। (६,११,१)

अथ यदि तस्याकर्ता भवति तत एव सत्यमात्मानं कुरुते स सत्याभिसन्धः सत्येनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स न दह्यते अथ मुच्यते। (६, ११, २)

आज सत्य में वह बल कहाँ है? आज की दुनिया में तो यह कल्पना-लोक की बात मालूम पड़ती है। इस तरह जब धर्म का ह्रास इस युग में सिद्ध हो जाता है, तब यह सिद्धप्राय है कि आज बल, विद्या, बुद्धि का ह्रास भी हो ही जाता है; क्योंकि धर्म ही इनकी जड़ है। फिर भी इसका सविस्तर विवरण दिया जाता है।

कलयुग की अपेक्षा और युगों में उर्वरा शक्ति अधिक होती है

आगे आपने लिखा—"शङ्कर प्रभृति सभी आचार्य कलियुग में ही हुए।...हिरण्यकशिपु और महिषासुर जैसे बलवान् धर्म द्वेषी कलियुग में तो हुए नहीं। इनके शासन-काल में सहस्रों वर्ष तक धर्म लुप्त-प्राय हो गया, अग्निहोत्र बन्द हो गये, वेद भूगर्भ में विलीन से हो गये। कलियुग में इससे क्या बुरा हुआ?"

शङ्कराचार्य प्रभृति सभी आचार्य इधर ही हुए, यह सत्य है, पर हुए तो आचार्य ही न ? उन इतरयुगीन ऋषियों से इनकी क्या तुलना हो सकती है जिनके लिए वेद ने कहा है—

अस्मत्पूर्वे ऋषयोन्तमापुः

—और जिनकी प्रशंसा में स्वयं शङ्कराचार्य ने लिखा है कि जो हमें प्रत्यक्ष नहीं है, वह पुराने ऋषि लोगों को प्रत्यक्ष था; हमारी शक्ति मन्त्रों एवं ब्राह्मणों के द्रष्टा ऋषियों की शक्ति की तुलना नहीं कर सकती—

भवति ह्यस्माकमप्रत्यक्षमपि चिरन्तनानां प्रत्यक्षम् ।... ऋषीणामपि मन्त्रब्राह्मणदर्शिनां सामर्थ्यं नास्मदीयेन सामर्थ्येनोपमातुं युक्तम् । (शारीरक भाष्य)

हिरण्यकशिपु आदि की तरह धर्मद्वेषी आज न हुए, यह ठीक है ; पर इससे यही सिद्ध होता है कि वे युग आज की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होते थे । उनकी समता उर्वरा-भूमि से की जा सकती है । उर्वरा-भूमि में यह ताकत होती है कि वह किसी भी बीज को अधिक विकसित कर दे । ऊषर में अच्छी चीज तो स्वतः उपजती नहीं, काँटे ही उगते हैं, वह भी निर्बल ! कलियुग में धर्म जैसे उग ही न रहा है अधर्म ही अधर्म उग गये हैं, पर इसमें वह भी ताकत नहीं कि इन अधर्मों को पहले के युगों की तरह पूरा आवरकरूप दे सके । यह ऊषर-भूमि जैसा है ।

पर इसके साथ-साथ मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि उन दिनों अधर्म के इस घोर-आवरक-रूप से भी धर्म का पतन न हुआ था । किन्तु आज तो अधर्म के इस छोटे-छोटे रूप से ही धर्म अन्तःसार शून्य हो, पङ्गु बन, औंधे मुँह गिर पड़ा है । क्योंकि उन दिनों कभी-कभी कुछ संख्या में ही धर्म-ध्वंसक पैदा होते थे और आज धार्मिक ही कहीं-कहीं कुछ संख्या में पैदा होते हैं । आज प्रायः सभी हिरण्यकशिपु ही तो हैं ? उन युगों में, जब हिरण्यकशिपु जैसे धर्मध्वंसक बढ़ जाते थे, उनके उग्रतम उपद्रव से भी धर्म के बाहरी रूप अग्निहोत्रादि की ही उन्नति में

बाधा पड़ती थी ; धर्म का आन्तरिक-रूप बिल्कुल विकृत न होता था, क्योंकि सारी जनता के अन्तःकरण में वह उसकी पूरी आस्था, श्रद्धा, लगन, और विश्वास से पलता रहता था ; डर से वे लोग अग्निहोत्रादि चाहे न कर पाते थे, पर भीतर से उसे करने के लिए अकुलाते रहते थे, ज्यों ही उस धर्म-ध्वंसक का ध्वंस हो जाता था कि वे तुरन्त उसके अनुष्ठान में लग पड़ते थे। इस तरह धर्म के बाहरी रूप का रुका विकास शीघ्र ही प्रकट हो जाता था ! गेहूँ के उर्वरा खेत में कुछ उग्र कण्टक के उग आने से गेहूँ के पौधों का बाहरी बढ़ाव तो रुक जाता है, पर उनका आन्तरिक बल सञ्चित रहता है ; वे काँटे ज्यों ही काटे जाते हैं उन पौधों को बढ़ते देर नहीं लगती।

परन्तु कलियुग में इसके ठोक विपरीत होता है। जैसे ऊषर में, उसकी ऊपरी परत हटा गोबर डालने आदि जैसी कड़ी मेहनत से कुछ गेहूँ तो ज़रूर खड़े हो जाते हैं, पर उनमें भीतरी ताकत नहीं होती और ज्योंही वहाँ स्वतः उत्पन्न होने वाली उषरौली (एक तरह का काँटा) वहाँ के प्रत्येक कण को फोड़कर प्रकट होती है ; बेचारा गेहूँ खड़ा नहीं रह सकता लुढ़क पड़ता है ; सूख जाता है। उसी तरह इस युग में पहले तो धर्म के बीज पनपते नहीं, पनपते भी हैं तो हजारों अधर्म के काँटे इसके जीवन-रसको ही सोख लेते हैं। धर्म के बाहरी रूप का बढ़ाव तो प्रायः बिल्कुल रुक ही जाता है, उसका आन्तरिक रूप बिल्कुल विकृत हो जाता है। क्योंकि जड़वाद के झूठे चमत्कार और मत-मतान्तरों के विपरीत वातावरण से जब सद्बुद्धि की ही जड़ सूखने लगती है, तब श्रद्धा, विश्वास, आस्था, और लगन के कोमल पत्तों का क्या पूछना ? उन युगों में हिरण्यकशिपु आदि जैसे घोर धर्म-ध्वंसक भी धर्म के अन्तः-सार श्रद्धा, विश्वासादि को निर्बल तक न कर सके ; पर यह तो प्रत्यक्ष है कि आज के अधिकांश जन में श्रद्धा, विश्वासादि की सत्ता मिट सी गयी है। आज धर्म का नारा लगाना असभ्यता समझा जाता है। लार्ड मेकाले

की भविष्य वाणी कि "पाश्चात्य शिक्षा से हिन्दू रूप-रंग में हिन्दू रह जायेंगे, असल में ईसाई होंगे ;" क्या आज प्रतिफलित नहीं हो रही है ? इस तरह यह तय होता है कि कलियुग के सम्बन्ध की धारणाएँ शास्त्रीय हैं, साथ-साथ तर्क और अनुभव भी इनसे विरुद्ध नहीं।

हम कोरे कालवादी नहीं

हाँ, यहाँ मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि उपर्युक्त विवेचनाओं से हमें कोई कोरा कालवादी न समझ ले। जैसा कि शास्त्रों का आदेश है, चाहे विपरीत से विपरीत परिस्थिति हो, हम सतत आगे बढ़ने के ही पक्षपाती हैं, हजारों विरुद्ध हरकतों को झेलते हुए उन पर विजय पाने के ही हिमायती हैं। हम कलियुग को ऊषर मानते हैं सही, पर यह भी मानते हैं कि हमें इसकी ऊपरी ही परत नहीं, भीतर तक की परतों को हटा इसमें आवश्यक खाद डालनी चाहिये और इस ताक में रहनी चाहिये कि उसरौली उगे ही नहीं। "चरैवेति चरैवेति" के ही हम आदी हैं। परमात्मस्मृति के पूत-प्रकाश में सतत युद्ध ही हमें अपेक्षित है। इसके लिए कलियुग की अनुर्वरता पर हमारा कभी खयाल नहीं गया।

बौद्धों को हमने देश निकाला दिया; चौदहवीं शताब्दी में मानवता को खोखला बनाने वाली प्रवृद्ध दानवता को सन्त ज्ञानेश्वर और ज्ञानेश्वरी के सरस वैभव से हमने विश्व के परदे से दूर हटा दिया। बाद तुलसी कृत रामायण, दासबोध, एकनाथी भागवत जैसी सञ्जीवनी से अपने मूर्च्छित योद्धाओं को जिला ईस्लाम धर्म को अन्तःसार शून्य कर दिया। आर्यसमाज को सचमुच आर्यसमाज बनाने के लिए उसके सच्चे मार्ग के प्रदर्शन में क्या हम कभी पश्चात्पद या असफल हुए ?

आज समूची दुनिया मिटने को तैयार है। जब जड़वादियों की बुद्धि यही समझ रही है और समझा रही है कि विश्वशांति के लिये मौजूदा युद्ध है तब तो मुझे "विनाश काले विपरीतबुद्धिः" वाली बात याद आती है। जब इनके विश्व-शान्ति के आयोजन से यह विश्व-व्यापी

निरपराध प्राणियों का संहार हो रहा है, तब विश्व-द्रोह की योजना कैसी आफ़त लायेगी ? आए दिन हमारे क्रान्तदर्शी महामानव नेता ने विनाश की जड़ असद्बुद्धि के नाश और सद्बुद्धि के विकास के लिए क्या क्रियात्मक व्यापक आन्दोलन न उठाया है ? मैं आप की बातें मानता हूँ कि हम में से अधिकांश आज जागरूक नहीं, पर यह भी तो प्रत्यक्ष है कि हमारी नींद को दूर हटाने के लिए आज सूर्य का उदय हो चुका है !

कलियुग में आयु का सचमुच ह्रास हो जाता है

'आयु की कलियुग में कमी नहीं हुई' अपने इस विचार की सिद्धि में आपने लिखा—"हमको यह बात स्पष्ट देख पड़ती है कि अब भी आयु की ऊपरी सीमा पहिले के बराबर पहुँचती है। यह उपरी सीमा दो-ढाई हजार वर्षों से ही बँधी हो या कलिकाल के ही लिये हो ऐसी बात नहीं है। श्रुति स्पष्ट कहती है "शतायुर्वै पुरुषः"। प्रत्येक द्विज सूर्य को अर्घ्य देकर यह प्रार्थना करता है कि 'पश्येम शरदः शतम् जीवेम शरदः शतम्" इत्यादि। इससे यह बात निश्चित है कि वेद के अनुसार, अर्थात् आरम्भ से ही मनुष्य की पूर्णायु सौ वर्ष ही है। अतः ऐसा मानने के लिये कोई कारण नहीं है कि कलियुग में मनुष्य की आयु की मर्यादा घट गयी है।"

मनुष्य की आयु की मर्यादा सत्ययुग की अपेक्षा कलियुग में कम हो जाती है, इसमें सन्देह नहीं। मनु भगवान् ने कहा है कि सत्ययुग में मनुष्य की आयु चार सौ वर्ष की, त्रेता में तीन सौ, द्वापर में दो सौ और कलियुग में एक सौ वर्ष की होती है—

अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः ।
कृते त्रेतादिषु ह्येषा आयुर्ह्रसति पादशः ॥

(मनु० १, ८३)

आयु की यह संख्या कोई गारन्टी नहीं, स्वभाविक है। आयुप्रापक धर्मों के अनुष्ठान से आयु बढ़ सकती है, और अधर्म से घट भी सकती है।

इसीलिए रामचन्द्र ने केवल राज्य ही दस हजार वर्ष तक किया था और आज के युग में बहुत लोग सौ वर्ष तक भी नहीं जीते।

उक्त मनु का "शतायुर्वै पुरुषः" इस श्रुति से कोई विरोध नहीं। क्योंकि यहाँ शत शब्द बहुवाची है। निरुक्त ने अध्याय ३ खण्ड १३ में शत, सहस्र दोनों शब्दों को बहुवाची माना है।

सुमीलहे शतं पेरुके च पक्वा
शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः

इत्यादि मन्त्रों में 'शत' शब्द का बहुवाचित्वेन प्रयोग हुआ भी है। नहीं तो—

(क) सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम् (अथर्व० १७, १, २७,)

(ख) आयुर्वै सहस्रम् (तैत्ति० ३, ८, १५, ३)

इन मन्त्रों से **"शतायुर्वै पुरुषः"** का विरोध स्पष्ट है। शतपथ ने तो साफ शब्दों में लिख दिया है कि पुरुष सौ वर्ष से बहुत ज्यादा जीता है—

अपि हि भूयांसि शताद् वर्षेभ्यः पुरुषो जीवति।
(१, ९, ३, १९,)

सूर्य को अर्घ्य देकर—**"पश्येम शरदः शतम्, जीवेम शरदः शतम्"**, यह जो प्रार्थना की जाती है, इससे भी यह सिद्ध नहीं होता कि हम केवल सौ वर्ष तक जीने की ही माँग करते हैं; क्योंकि इसी मन्त्र में हम आगे पढ़ते हैं—**"भूयश्च शरदः शतात्"** अर्थात् हम सौ वर्ष से और ज्यादा जीयें। 'इस तरह पता चलता है कि कलियुग में आयु भी घट जाती हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इस ह्रासवाद को यों व्यक्त किया है—**"किं पुनरद्यत्वे यः सर्वथा चिरञ्जीवति स वर्षशतं जीवति"**।

ऊपर आये उद्धरणों की सङ्गति के लिये "शतायुर्वै पुरुषः" में आये शत शब्द को तो बहुवाची मान लेने पर काम चल जाता है किन्तु बहुत

से ऐसे भी वचन मिलते है, जहाँ शतशब्द को बहुवाची नहीं, अपितु संख्यावाची ही माना जा सकता है उस अवसर पर शतशब्द को कलिपरक मानकर ही सङ्गति लगायी जाती है। कुल्लूकभट्ट ने इन दोनों पद्धतियों का निर्देश कर दिया है—

"शतायुर्वै पुरुषः" इत्यादि श्रुतौ तु शतशब्दो बहुत्वपरः कलिपरो वा (मन्वर्थमु० १,८३)

जैसे कि भागवत में आया कि मनुष्यों की परमायु सौ वर्ष की होती है—

संवत्सरशतं नृणां परमायुर्निरूपितम् ॥

(श्रीमद्भा० ३,११,१२)

इस श्लोक में प्रयुक्त शत शब्द को संख्यावाची ही मानना पड़ेगा; क्योंकि यह काल-विभाग-निरूपण के प्रकरण में आया है। इसी तरह ऐतरेयोपनिषद के प्रारम्भ में ही पूर्वपक्ष की स्थापना के अवसर पर भगवान् शङ्कराचार्य ने कहा है कि मनुष्यों की परमायु सौ वर्ष से ज्यादा नहीं है—**"न च वर्षशतात् परमायुर्मर्त्यानाम्।"** और इस बात को प्रमाणित करने के लिये उन्होंने जो श्रुति उद्धृत की है, उसमें सौ वर्ष में होने वाले दिनों की गणना कर बतलाया गया है कि मनुष्यों की आयु ३६००० दिनों की होती है; अतः यहाँ बहुवाचीवाली पद्धति की गुंजाइश नहीं—

दर्शितञ्च—"तावन्ति पुरुषायुषोऽह्नां सहस्राण्यपि भवन्ति"

अतः ऐसे अवसर पर इन वचनों को कलिपरक मान लेना चाहिये। यदि ऐसा न माना जायगा तब उपर्युक्त "अपि हि भूयाँसि शताद्वर्षेभ्यः पुरुषो जीवति" इत्यादि वचनों का विरोध स्पष्ट ही है।

सायणाचार्य ने सङ्गति का तीसरा प्रकार भी बतलाया है। उनका आशय है कि ब्रह्माण्डाभिमानी ब्रह्मा की आयु निश्चित ही सौ वर्ष की

१—ब्रह्मा की सौ वर्ष की यह आयु उनके अपने वर्ष के प्रमाण से

होती है, उसमें एक दिन का भी हानोपादान सम्भव नहीं। अतः वे वचन, जिनमें सौ वर्ष की परमायु की चर्चा है, विशेषतया ब्रह्मा की आयु के लिये लागू हैं। उनकी सन्ततियों के लिये तो वे सामान्य हैं, इनकी आयु धर्माधर्म के द्वारा बढ़-घट सकती है—**"अण्डाभिमानिनो ब्रह्मणः स्वप्रमाणेन शतसम्वत्सरायुष्ट्वात्तत्संततिपतितस्यापि सामान्येन चतुष्ट्वम्।" (कृ० यजुः १,५,२)**

आयु के सम्बन्ध में चौथे मतवादियों का यह कहना है कि मनुष्य की पूर्णायु तो बस सौ वर्ष की होती है; युगानुरूप उसका विकाश-ह्रास होता रहता है। सत्ययुग में वह धर्मानुष्ठान से हजारों की संख्या में बढ़ जाती है, किन्तु अनन्तर युगों में धर्म के ह्रास के नाते वह क्रमशः घटती जाती है।

कलियुग में बल का भी ह्रास हो जाता है

आगे आपने लिखा है कि—"ऐसा मानने का भी कोई कारण नहीं है कि आजकल के लोग पहिलेवालों से शारीरिक-बल में कम होते हैं।...... ढाई तीन सौ वर्ष के पुराने कपड़े, गहने और हथियार अब भी

होती है। हमारे यहाँ की एक सहस्र चतुर्युगी का ब्रह्मा का एक दिन होता है और इतनी ही बड़ी रात्रि होती है—

त्रिलोक्या युगसाहस्रं बहिराब्रह्मणो दिनम्।
तावत्येव निशा तात यन्निमीलति विश्वसृक्॥

(श्रीमद्भा० १,३,११,२२)

इसी तरह के दिन-रात के हेर-फेर से ब्रह्माजी की सौ वर्ष की परमायु होती है—

एवंविधैरहोरात्रैः कालगत्योपलक्षितैः।
अपक्षितमिवास्यापि परमायुर्वयःशतम्॥

(श्रीमद्भा० ३,११,३२)

मिलते हैं। उनसे ज्ञात होता है कि तत्कालीन लोग प्रायः आज जैसे ही थे। महेञ्जोदरो में पाँच सहस्र वर्ष अर्थात् कलियुग के आरम्भ काल के घर मिले हैं, वह भी आज जैसे मनुष्यों के ही रहने योग्य हैं। वहीं गेहूँ के दाने मिले। वह भी आजकल के गेहूँ के दाने के बराबर थे। भू-गर्भों की ऐसी चट्टानों में, जो बीसों सहस्र वर्ष पुरानी हैं, नर-कङ्काल के टुकड़े मिले हैं, उनसे भी यही प्रतीत होता है कि शरीर की लम्बाई-चौड़ाई और शक्ति में कोई उल्लेख्य अन्तर नहीं हुआ है।"

युगानुरूप बल का भी ह्रास होता है। भीम बड़े बली थे आज की दुनिया में वैसा बली कोई नहीं; पर वह भी त्रेतायुग के हनुमान् जी की पूँछ तक न उठा सके। कौमार भृत्य के 'काश्यप संहिता' में लिखा है कि द्वापर में एक बड़े हाथी के बराबर बल आम जनता को होता था—"**अथ द्वापरे···महाहस्तिबलम्।**" तीन सौ वर्ष पहले ही शिवाजी, तानासिंह, प्रतापभानु, राणाप्रताप जैसे बड़े-बड़े बली हुए हैं, वैसे आज नहीं हैं।

महेञ्जोदरो की खुदाई से कभी ह्रासवाद का खण्डन नहीं होता

एक बात यह है कि पृथ्वी से निकली अधिकांश चीजों की प्राचीनता अटकल से ही सिद्ध की जाती है। महेञ्जोदरो की चीजें ५००० वर्ष की हैं या नहीं, पहले तो इसी में निर्णय नहीं ? यदि थोड़ी देर के लिये यह बात मान भी ली जाय तो भी इससे ह्रास-वाद पर आँच नहीं आती। मान लीजिये कोई नवजात शिशु है जिसकी पूर्णायु १०० वर्ष की है। इन सौ वर्षों में इसके शरीर में पौगण्ड, किशोर, युवा, वार्द्धक्यादि अवस्था विशेष आते-जाते रहेंगे और यह नवजात शिशु क्या का क्या हो जायगा ? इसका यह परिवर्त्तन अवश्यम्भावी है। पर इसके शरीर के इस विकास-ह्रास का अन्दाज़ा हम २४ घण्टे जितने समय में नहीं कर सकते। यद्यपि इस २४ घण्टे में उसका सूक्ष्म विकास हो जाता है, पर वह आँख

का विषय नहीं। यदि इस २४ घण्टे में उसके शरीर का विकास न देख कोई यह कहे कि इसके शरीर में ह्रास-विकास होता ही नहीं तो उसका यह कथन सर्वथा गलत समझा जायगा। जैसे १०० वर्ष की दीर्घ अवधि में होनेवाले परिवर्त्तन को २४ घण्टे में नहीं आँका जा सकता; इसी तरह अरबों वर्षों में होने वाले स्थूल ह्रास को हम पाँच हजार वर्षों में ठीक-ठीक नहीं आँक सकते! पृथ्वी की मौजूदा उम्र एक अरब[1] वर्ष से भी ज्यादा है। पृथ्वी की इतनी बड़ी उम्र में पाँच हजार वर्ष उससे भी ज्यादा नगण्य है जितना कि सौ वर्ष में चौबीस घण्टा! अतः महेञ्जोदरो को खुदाई से ह्रासवाद का खण्डन नहीं हो सकता।

ह्रास वाद का विज्ञान से समर्थन

अनेक वैज्ञानिकों ने भी इस ह्रासवाद को स्वीकार किया है। कुछ दिन तक तो विज्ञानजगत् में डार्विन के विकासवाद का बोलबाला रहा, परन्तु जैसे जैसे अनुसन्धान का कार्य बढ़ता जा रहा है, वैसे-वैसे उसकी असारता अपने आप प्रकट होती जा रही है। निःसीम-विकास अब

१—पृथ्वी की आयु के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों में गहरा मतभेद रहा है। जैसे-जैसे विज्ञान का अनुसन्धान-कार्य बढ़ता गया वैसे-वैसे वैज्ञानिक लोग अपना मत बदलते गये। एस न्यू० साहब के मत से एक करोड़, हिलनार साहब के मत से दो करोड़, काल साहब के मत से सात करोड़, सर विलियम टामसन के मत से दश करोड़, प्रो० निशचाफ के मत से पैंतीस करोड़, रेड महाशय के मत से पचास करोड़ वर्ष होते हैं। किन्तु सुप्रसिद्ध भूतत्त्वविद्याविशारद हकसले ने बड़ी खोज के बाद यह सिद्ध किया है कि जब से पृथ्वी में वनस्पति की उत्पत्ति आरम्भ हुई है, तब से अब तक एक अरब वर्ष बीते हैं। यह खोज हमारे यहाँ के शास्त्रीय माप-रेखा का स्पर्श करता है। सूर्यसिद्धान्त ने स्पष्ट कर दिया है कि कल्प के आदि से आजतक १९७२९४९०४६ वर्ष बीते हैं।

ख़याली बात समझा जाने लगा है। डाक्टर बालून (Dr. W. H. Ballon) अस्थिपञ्जरों का अध्ययन कर इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि पहले के प्राणी आज की अपेक्षा बड़े आकारवाले होते थे। भू-गर्भ से प्राप्त अस्थिपञ्जरों का जब उन्होंने समुचित जोड़ बैठाया तब मानव का आकार एक दैत्य सा प्रतीत हुआ। इस अनुशीलन के आधार पर उन्होंने लिखा है कि किसी काल में कौए, चमगीदड़, उल्लूक आदि इतने बड़े होते थे कि आजकल के मनुष्य उनके चंगुल में डोल्ची बाँध सहज ही आकाशयात्रा कर सकते थे। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि "नर-कङ्काल के मिले टुकड़े से यह नहीं प्रतीत होता कि शरीर की लम्बाई चौड़ाई में कोई अन्तर हुआ है"।

कलियुग में बुद्धि का ह्रास अधिक अनुपात में हो जाता है

आगे आप ने लिखा—"यह भी नहीं माना जा सकता कि आजकल बुद्धि-बल घट गया है। पहिले के समय में आज की भाँति रेल-तार कहाँ था, बिजली के प्रकाश का किसको पता था ?"

शास्त्रीय दृष्टिकोण से तो यही निर्णीत होता है कि आजकल सचमुच बुद्धि-बल पहले की अपेक्षा घट गया है। यास्क ने बुद्धि के इस ह्रासवाद को स्वीकार किया है। निरुक्त के प्रयोजन बतलाने के अवसर पर उन्होंने लिखा है कि पहिले जमाने में ऋषियों को धर्म का साक्षात्कार रहता था, मन्त्र एवं उसके अर्थ का उन्हें स्वतः प्रत्यक्ष होता था। पर काल-क्रम से परवर्ती जनों में वह शक्ति नहीं रह गयी, वे मन्त्रार्थ का साक्षात्कार करने में अक्षम हो गये। तब ऋषियों ने उन्हें उपदेश द्वारा मन्त्र और अर्थ बतलाया। उनमें वह मेधाशक्ति थी कि केवल सुनकर मन्त्र और अर्थ कण्ठस्थ हो जाते थे। परन्तु जब और अधिक समय बीता, तब लोगों में मेधा की वह शक्ति न रह गयी कि सुनकर याद रख सकें ; अब यह आवश्यक हो गया कि उनके आगे वह विषय लिखकर रखे जाँय।

निरुक्त शास्त्र की इसी अवसर पर आवश्यकता पड़ी[१]—

साक्षात्कृतधर्माणो हि ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुरुपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः······" (निरुक्त अ० १, खण्ड २०)

इस निरुक्त का स्पष्टीकरण टिप्पणी में दुर्गाचार्य्य के उद्धरण से कर दिया गया है। अब एक और उद्धरण दे दिया जाता है—

"आर्षज्ञानावबुद्धो वा पूर्वं भवति कस्यचित्।
ततस्ते नापरेभ्योऽसौ शिष्येभ्यः प्रतिपाद्यते ॥
तैरप्यन्येभ्य इत्येवं शिष्याचार्यपरम्परा।
प्रवृत्ता तावदेवास्ते यावदाभूतसंप्लवम् ॥
पुनः सृष्टौ ततः कश्चिदादावार्षाच्च दर्शनात्।
नित्यं दृष्ट्वागमं साक्षाच्छिष्येभ्यः प्रतिपादयेत् ॥
असाक्षात्कृतधर्मभ्यस्तेऽपरेभ्यो यथाविधि।
उपदेशेन सम्प्रादुर्मन्त्रान् ब्राह्मणमेव च ॥
अशक्तास्तूपदेशेन ग्रहीतुमपरे तथा।
वेदमभ्यस्तवन्तस्ते वेदाङ्गानि च यत्नतः ॥
प्रथमाः प्रतिभानेन द्वितीयास्तूपदेशतः।
अभ्यासेन तृतीयास्तु वेदार्थं प्रतिपेदिरे।"

१—"साक्षात्कृतधर्माणस्ते अवरेभ्योऽवरकालीनेभ्यः शक्तिहीनेभ्यः श्रुतर्षिभ्यः (शाखाप्रवक्तृभ्यः) तेषां हि श्रुत्वा ततः पश्चादृषित्वमुपजायते न यथा पूर्वेषां साक्षात्कृतधर्मणां श्रवणमन्तरेणैव।···कथं नामोपदिश्यमानमेते शक्नुयुर्ग्रहीतुमित्येवमर्थमधिकृत्य ग्लायन्तः खिद्यमानास्तेष्व-गृह्णत्सु तदनुकम्पया तेषामायुषः संकोचमवेक्ष्य कालानुरूपाञ्च ग्रहणशक्तिम्···।"

इस उद्धरण में स्पष्ट शब्दों में बतलाया गया है कि वेदार्थ का ग्रहण तीन प्रकार से होता है। सृष्टि के आदि में बुद्धि इतनी निर्मल रहती है कि उसमें वेदार्थ का प्रतिफलन आप ही हो जाता है किन्तु धीरे-धीरे उसकी वह ग्राहकताशक्ति क्षीण पड़ती जाती है। नतीजा यह होता है कि वेदार्थ जानने के लिये गुरु की शरण लेनी पड़ती है। इसके कुछ काल बाद तो वह शक्ति और दुर्बल पड़ जाती है, इस हालत में गुरु के एकमात्र उपदेश से वेदार्थ का कण्ठस्थ हो जाना असंभव हो जाता है, तब तो बार-बार उसकी रट लगाने की जरूरत पड़ती है। ज्यों-ज्यों काल बीतता जायगा, उसके लिये अभ्यास के तारतम्य को बढ़ाते जाना पड़ेगा।

आजकल मनोवैज्ञानिक रीति से बुद्धि की जो जाँच की जाती है, उसके आधार पर बोवेज ने यह प्रमाणित किया है कि आधुनिक-सभ्यता की उन्नति के साथ-साथ बुद्धि का ह्रास बढ़ता जा रहा है। एक दूसरे विद्वान्, डाक्टर वालेस ने भी बड़ी खोज के बाद यह निर्णय दे दिया है कि क्रमशः ज्ञानवृद्धि का कोई प्रमाण नहीं है— "There is therefore no proof continuously increasing intellectual power".

अतः बुद्धि का ह्रास कलियुग में हो जाता है, यह कहना चाहिये।

महायन्त्रों का निर्माण बुद्धि के ह्रास का ही प्रत्यायक है

रहा सवाल यह कि पहिले ज़माने में आज की भाँति बिजली, विमान आदि न थे। अर्थात् आज की बुद्धि ने महायन्त्रों का निर्माण कर यह सिद्ध कर दिया है कि मैं पहिले की अपेक्षा अधिक उन्नत हो गयी हूँ।

पर मैं तो कहूँगा कि ये आविष्कार बुद्धि के विकाश के नहीं ह्रास के प्रत्यायक हैं क्योंकि भगवान् मनु ने महायन्त्रों को बुरा बतलाया है, उनके निर्माण को उपपातकों में गिना है—

महायन्त्रप्रवर्त्तनम् (११, ६३)

बुरी वस्तुओं के बढ़ाव को कभी विकास नहीं कहा जा सकता मान

लीजिये, हम नवयुवक हैं, पचास वर्ष बाद बुढ़ापे में ऐसे रोग हमारे शरीर में प्रगट हो जायँगे जो आज नहीं हैं, तो क्या यह कहा जा सकता है कि वह समय हमारे लिये विकास का रहेगा; और उन रोगों का आविष्कारक हमारा शरीर भी तब विकास पर रहेगा? इसीतरह महायन्त्रों जैसी निषिद्ध वस्तु पहले न थी और आज प्रकट हो गयी है, तो यह नहीं कहा जा सकता कि आज का युग विकास पर है और न यह कि इसकी आविष्कर्त्री बुद्धि पहले की अपेक्षा विकसित हो गयी है। सद्गुण एवं सद्-वस्तुओं का बढ़ाव ही विकास है, दुर्गुण एवं दूषित वस्तुओं का बढ़ाव कभी विकास नहीं।

मैं जानता हूँ लोगों को मेरे ये विचार दकियानूसी जँचेंगे और उन्हें भगवान् मनु की बुद्धि पर भी तरस आयेगी; क्योंकि आज यह धारणा बद्धमूल हो गयी है कि आज के आविष्कार बड़े महत्व की चीज़ हैं। लोग इनके खिलाफ़ एक शब्द भी सुनना नहीं चाहते। आज की बुद्धि मनु की बुद्धि से केवल टकराती ही नहीं, प्रतिस्पर्धा भी करती है। इतनी गर्वीली बन गयी है कि वह मनु को कोई महत्त्व देना नहीं चाहती। मनु जिसे अन्धकार कहते हैं, उसे यह प्रकाश कहते थोड़ा भी नहीं हिचकती। तो क्या सचमुच इसका विकास हो गया है, मनु की बुद्धि को क्या सचमुच इसने मात कर दिया है? कहना पड़ेगा, नहीं। क्योंकि वेद मनु के पक्ष में है, मनु के वचनों को उसने सर्वथा औषध होने की डिग्री दे दी है—

मनुर्वै यत्किञ्चिदवदत्तद् भेषजं भेषजतायाः

तब अर्थात् सिद्ध हो जाता है कि हमारी बुद्धि बहुत अवनत हो चुकी है। यह इसी का नतीजा है कि पतन को यह उत्थान के रूप में देख रही है। जो ह्रास की निशानी है, उसे विकास की निशानी समझना और जिसे संहारक कहना चाहिये, उसे शिव के रूप में प्रतिष्ठित करना जरूर बुद्धि के ह्रास का प्रत्यायक है।

महायन्त्र का प्रवर्त्तन पातक क्यों ?

आज जड़वाद का जादू भीतर तक असर कर गया है। आस्तिक जनता जमाने का तकाज़ा न सुन भले ही मनु का कदर करे, परन्तु उसकी भी बुद्धि से यह भ्रम भागनेवाला नहीं है कि आज के आविष्कार अच्छी वस्तु हैं और जड़वाद उन्नतिवाद है। अतः यह आवश्यक है कि इस विषय का विस्तार किया जाय।

जीव का लक्ष्य और उसके पथ की परेशानियाँ

विचारणीय प्रश्न यह है कि ऋषियों ने आखिर इस पर रोक ही क्यों लगायी ?

बात यह है कि हमारे क्रान्तदर्शी महर्षियों ने जीव की आवश्यकताओं और मानव-जीवन की पूरी सार्थकता को परखा था। उन्हें मालूम था कि सुख की खोज में जीव लम्बी यात्रा कर रहा है। वह अनेक बार चन्द्र, इन्द्र, महेन्द्र बन सका है, किन्तु उसे न तो कहीं पूर्ण सुख मिला न सन्तोष। संसार के रस में वह मिठास ही कहाँ, जिससे इसकी पूरी-पूरी प्यास बुझ सके ? पूर्ण सुख, पूर्ण स्वतन्त्रता, पूर्ण ज्ञान और पूरी ज़िन्दगी ही जीव का लक्ष्य रहा है, जहाँ पहुँचने के लिये न जाने यह कब से चल पड़ा है और अनवरत चलता ही जा रहा है !

कितने युग आये-गये, विश्व मर-मर कर जिया, परन्तु आज भी जीव की इस यात्रा का अन्त नहीं। जहाँ यह जाना चाहता है, क्या वह ठिकाना दूर-दूर बहुत दूर है ? या इसके इस पथ का ही कहीं अवसान नहीं; क्या सदा के लिये राहगीरी ही इसकी सङ्गिनी बनी रहेगी ? क्या इसकी वह प्यास बुझने को ही नहीं, जो अब तक अमिट बनी हुई है ?

जीव की परेशानियों के यह प्रश्न बहुत पहले उठे थे, आज भी उठ रहे हैं और आगे भी उठते रहेंगे। ऋषियों की ऋतम्भरा प्रज्ञा ने इस प्रश्न का बहुत सुलझा एवं पूर्ण समाधान कर दिया है। उन्होंने देखा

कि जीव का लक्ष्य तो दूर नहीं पर इसके पथ अवश्य बीहड़ हैं—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथं तत्कवयो वदन्ति ।

(क० उ०)

एक तो इनमें फिसलहट है, दूसरे निविड़ अन्धकार। अल्हड़ आँधी का पग-पग पर सामना करना पड़ता है। सब से बड़ा भय तो दिग्भ्रम का रहता है और अकसर ऐसा ही होता है कि जीव भटककर लक्ष्य के बिलकुल विपरीत दिशा में मुड़ पड़ता है; तब वह जितना भी बढ़ता है उसका लक्ष्य उससे उतनी ही दूर होता जाता है। जीव के पास ऐसा कोई प्रकाश नहीं जो इसके पथ को सतत आलोकित कर सके। बुद्धि के क्षीण प्रकाश का न कोई भरोसा है और न उस पर अपनी कोई बिसात। एक तो यह कामादि के हलके झोंके से बुझ सकता है; दूसरे, कभी तो वह आसुरी शक्ति से अभिभूत रहती है, कभी दैवी शक्ति से। आसुरीशक्ति से अभिभूत बुद्धि तो असत्य को सत्य एवं सत्य को असत्य के रूप में हमारे आगे रखती है; उस समय अपनी बुद्धि पर भरोसा रखकर जीव कितना ठगा जाता है? प्यास से जीव की क्लान्ति और बढ़ी होती है। इस हालत में विषय का छिछला रस एवं मोह की मायिक छाया सहज में ही इसे अपनी ओर खींच लेती है। यदि जीव ने इस रस और छाया का उपभोग कर लिया, तो अपनी बोझल पलकों से नींद को आसानी से नहीं हटा सकता; और यदि वह सो गया तब उसकी इस महानिशाका शीघ्र अवसान ही नहीं होने का।

मानवयोनि उन्नति या अवनति का एकमात्र केन्द्रस्थल

ऋषियों ने जी की इन परेशानियों को हटाने के लिये सबसे पहले इसके पथ के उस केन्द्रस्थल को ढूँढ़ निकाला, जहाँ से यह या तो ऊँचा उठता है या नीचे की ओर आ पड़ता है। वह केन्द्र-स्थल है—मानवयोनि। यहीं से जीव की यात्रा का प्रारम्भ होता है, क्योंकि चौरासी लाख

योनियों में एकमात्र मानवयोनि ही कर्त्तव्य-योनि है। मानवजीवन के सौ वर्षों की लघु सीमा में जीव अपनी यात्रा का या तो अन्त कर सकता है या फिर से इसे अनन्त सा बना सकता है —

"इयं हि योनिः प्रथमा यां प्राप्य जगतीपते।
आत्मा वै शक्यते त्रातुं कर्मभिः शुभलक्षणैः॥
शारीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः। (महाभा०)

चौदहों भुवन की सारी वस्तुएँ मनुष्य की ही तो भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं ? जो कुछ भला या बुरा है, सब मनुष्य की देन है, यही उस रूप में आया है; स्थावर भी यही जंगम भी यही। जीव मनुष्य योनि में जो कुछ कर जाता है उसी के उपभोग के लिये वह कीट से मानव तक बनता है।

मानव वीरान दुनिया को आबाद कर सकता है और आबाद दुनिया को बरबाद !

ऋषियों ने मानव-जीवन की इन खूबियों को परखा था; इन्होंने इसकी क़ीमत और कठिनाइयाँ इन दोनों को आँका। उन्होंने देखा कि मानव-जीवन के सौ वर्ष की सावधानी से ही जीव अनन्त वर्षों के लिये पूर्ण सुखी हो सकता है और नरक में भी स्वर्ग उतार सकता है। मनुष्य यदि संभल सका तो दुनिया की आधि-व्याधियाँ ही सर्वदा के लिये उठ जाँय ! वह हाहाकार की उठती ध्वनियों को सदा के लिये सुला दे; शोक-मोह के ध्वंसावशेष पर शुभ-सुख की सौधावलियाँ खड़ी कर दे; अणु-अणु में वह मादक सुन्दरता निखार दे कि 'चिरसुन्दर' भी सस्पृह हो उठें। परन्तु मनुष्य का सँभल सकना ही मुश्किल है। अतः ऋषियों ने इसके लिये एक ऐसी वस्तु का पता लगाया, जो अकेले ही इसके लिये अमिट प्रकाश का, सरस शम्बल का, कम्पास का एवं इसके संभाल का काम कर सके। वह वस्तु है—अधिदैव दृष्टि !

अधिदैवभावना : चिरपथ की समर्थ साथिन

यदि मनुष्य अधिदैव दृष्टि रख सका, देवों का नमन-पूजन कर सका तो देवता इसकी अवश्य सम्भाल करते हैं; इसके सजग साथी बन इसे आसुरी थपेड़ों से बचाते हैं, आवश्यक शम्बल देते हैं, इसकी बुद्धि में वह प्रकाश भर देते हैं कि यह भटकने नहीं पाता—

यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संयोजयन्ति तम् ।

अधिदैव भावना वह कनेक्शन है, जो मानव-बल्ब को दैवी (ईश्वरीय) शक्तियों से संस्पृष्ट कर देता है । उस हालत में देवता चाहे व्यक्तिगत रूप से मदद न भी पहुँचायें वह स्वयं प्रकाशित रहता है और अपना रास्ता आप तय करता जाता है । पर मानव जब इस अधिदैव भावना को छोड़ देता है, तब वह बिजली के उस बल्ब की तरह जिसका कि विद्युद्धारा से कनेक्शन न रह गया है, तम से अभिभूत हो जाता है । अतः मानव को सदैव अधिदैव भावना रखने की जरूरत है । बल्ब को निरन्तर प्रकाशित रखने के लिये विद्युद्धारा से उसका अबाधित कनेक्शन रखना ही पड़ता है । इसीलिये ऋषियों ने प्रत्येक अधिभूत में अधिदैव दृष्टि रखने को कहा है । शरीर का अणु-अणु किसी न किसी देवता से अधिष्ठित है और तभी वह सक्रिय रहता है—**"सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठइवासते ।"** (अ० सं० ११,८,३२) **"सर्वेदेवा अङ्गे विभेजरे ।"**

जिस समय मनुष्य अधिभूत दृष्टि रखता है, उस समय उसमें दैवी शक्तियों का सञ्चार नहीं होता; बल्ब ईंटों के कनेक्शन से नहीं जलता ! महायन्त्रों के सन्निधान में मनुष्य को अधिभूत दृष्टि ही रखनी पड़ती है । इस तरह निरन्तर जड़ की भावना करते-करते मनुष्य स्वयं जड़ बनने लगता है; बहुत दिनों तक विद्युद्धारा से कनेक्शन न मिलने पर बल्ब की प्रकाशन शक्ति नष्ट हो जाती है । जड़ता ही असुरता है, अतः जड़ बनने का अर्थ हुआ कि मनुष्य असुर बन जाता है ।

भावनां की विस्मापक शक्ति

बल्ब की सार्थकता के लिये कनेक्शन की जितनी उपादेयता है, उससे अधिक उपादेयता मानव जीवन में 'भावना' की है। भावना से बढ़कर शक्तिशाली कोई दूसरा प्राकृत पदार्थ नहीं। मनुष्य जैसी भावना करता है वह वैसा ही बन जाता है। यदि इसमें अधिदैव की भावना दृढ़ हो सकी, फिर आसुरी शक्ति का अस्तित्व ही इसके लिये नहीं रह जाता; और यदि इसमें अधिभूत की भावना ने जगह जमाली, तब इसकी अधिदैव और अध्यात्म की दृष्टि बिलकुल निकम्मी हो जाती है— **"अथ खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति, स यथाकामो भवति'''तदभिसम्पद्यते।"**

जीव और जगत स्वयं ईश्वर है। पर जीव का पतन ही इस नाते हुआ कि इसने ईश्वर में ईश्वर की भावना न रख जीव और जगत की भावना की; जो सच्चिदानन्द था शोक-मोह में आ पड़ा—**"भवो हि भावनामात्रं न भवो पारमार्थिकः।"** यदि आज भी जीव ईश्वर की भावना परिनिष्ठित कर ले तो सहज ही अपना स्वरूप आप पा ले! पुराण की एक कथा है कि पहिले दो ऐसे असुर हुए, जो मरना-डरना जानते ही न थे। उन्हें हराने के लिये यही एक अमोघ अस्त्र था कि उनमें मरने-डरने की भावना पैदा की जाय। इसके लिये देवताओं ने उनके आगे भयादि का अभिनय किया और तब वे उन्हें हरा सके। देवताओं के अभिनय से इन असुरों में मरने-डरने की भावना जम गयी, जिससे उनका फौलादी हृदय पानी-पानी हो गया; मारा गया?

भृङ्गी जिन कीटों को भृङ्गी बनाना चाहता है उन्हें खूब तंग करना प्रारम्भ करता है, वे जिधर भी भागते हैं उनके सिर पर पहुँचा रहता है, वे कीड़े इतने भयभीत और आजिज़ हो जाते हैं कि उनको चारो ओर भृङ्गी ही भृङ्गी नजर आता है और इसी हालत में वे बेहोश हो जाते हैं। इसी भावना के बल पर उनके शरीर का परमाणु-परमाणु बदल कर

भृङ्गी का हो जाता है। यह एक शास्त्रीय दृष्टान्त है, जो आज भी आँखों का विषय है।

मरते समय मनुष्य की जैसी भावना होती है, उसका अगला शरीर उसी के अनुरूप बनता है। राजा भरत को मृत्युवेला में अपने पालित मृग की यादें सताने लगीं। बस, इसी भावना से उनका अगला शरीर मृग का हुआ। भगवान् ने कहा है—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥" (श्रीमद्भ० ८,६)

अश्वमेध में एक खास तरह के घोड़ की जरूरत पड़ती है। वैसे रूप-रंग के घोड़े का मिल सकना असम्भव रहता है। अतः तत्त्ववेत्ताओं ने इस क्षति की पूर्ति के लिये एक वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग किया। वह उन-उन विशेषताओं से युक्त एक मिट्टी के घोड़े को बना उसे उस घोड़ी के सामने रख देते थे, जो अन्य अश्व से गर्भाधान करा रही हो। उसके हृदय में घोड़े की वह भव्य और आकर्षक मूर्ति प्रतिफलित हो जाती थी। हृदय-द्रुति के उस नाजुक अवसर पर उसको वैसी भावना का बड़ा जोरदार असर पड़ता था। फल यह होता था कि उसका बच्चा ठीक मिट्टी के घोड़े के डील-डौल, रूप रंग में होता था। आज-कल के पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने भी इस प्रक्रिया को व्यवहारिक रूप दिया है। उनका राष्ट्रीय पशु कुत्ता हो रहा है, अतः अपनी-अपनी रुचि के अनुसार वे कुत्ते का उत्पादन कराते हैं।

इस तरह इन दो-तीन निदर्शनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन में भावना की अबाधित उपादेयता है। जैसी भावना रहती है, वैसा ही बनना पड़ता है—"**यो यच्छ्रद्धः स एव सः।**" अतः अधिभूत भावना से जड़ बन जाना, कोई असम्भव नहीं।

जड़वाद का खतरा

जड़वाद की उपासना से मनुष्य में असुरों की सभी बानगी आ जाती

है। उसकी बुद्धि में इतनी जड़ता आ जाती है कि वह असत्य को ही सत्य समझ लेता है। अहंकार का स्तर इतना मोटा पड़ जाता है कि वह अपने को ही सब कुछ समझने लगता है, उसके लिये न कोई देवता रह जाते हैं न ईश्वर ! लोक-परलोक, परमार्थ और आत्मा जैसी सूक्ष्म वस्तुओं का उसके लिये कोई महत्व नहीं, उसका सब कुछ उसका अपना शरीर ही होता है। इसी में उसकी ममता एवं आसक्ति होती है। इसका पोषण जिन उपायों से होता है, वह उन्हें अवश्य करता है; वह चाहे अच्छे हों चाहे बुरे। उसमें स्वार्थ इतना प्रवृद्ध रहता है कि वह केवल अपने से ही प्रेम कर सकता है, पुत्रादि परिजनों से भी नहीं। परिजनों से जो उसका लगाव होता है वह इसलिये कि उनमें उसकी ममता है, उसका स्वार्थ सधता है। इसका जातीय संगठन भी इसी उद्देश्य को लेकर होता है। यदि वह जातीय-संगठन न करे तो दुनिया के दुर्बल हाथों से भोग-सामग्रियाँ ही कैसे छीन सकता है ? ठीक असुर बन जाता है— **"स्वेस्वेवासुषु विष्वग्विषयासु प्राणनक्रियासु रमणात्।"** ऐसे मनुष्य का लोक में तो कद्र होता ही नहीं, परलोक में भी बड़ी भीषण यातनायें सहनी पड़ती हैं। बाद की योनियों में उन्हें थोड़ा भी सुख, थोड़ी भी स्वतन्त्रसा नहीं मिलती;पूर्ण सुख और पूरी स्वतन्त्रता तो सुदूर क्षितिज की चीज़ बन जाती है। फिर जीव की न किसी आवश्यकताओं की पूर्ति हुई न मानव जीवन ही सार्थक बना।

यह केवल खयाली ही बातें नहीं; आज की दुनिया के परदे पर तो यह सर्वथा प्रतिफलित हो गयी हैं। क्या आज धर्म के खिलाफ बुलन्द आवाजें नहीं उठायी जातीं ? क्या जड़वादी दुनिया का बच्चा-बच्चा आज ईश्वर को काला झण्डा दिखाने को तैयार नहीं ? परलोक और परमार्थ, आत्मा और परमात्मा क्या आज कल्पना की चीज़ नहीं समझे जाते ? बेचारा हिन्दू आज इसीलिए जंगली समझा जाता है कि अभी भी इसमें धर्म एवं ईश्वर की आस्था जीती है ! क्या आज की दृष्टि

आधिभौतिक उन्नति तक सीमित नहीं ? इसलिये भोजन नहीं किया जाता कि हमारा मानसिक स्वास्थ्य ठीक हो, बल्कि इसलिए कि खून बढ़े, मांस बढ़े ? सात्विक भोजन की वे उपेक्षा करेंगे ही, क्योंकि उस की अपेक्षा तामसिक भोजन, मुर्गी के अण्डे, मांस आदि से उन का शरीर अधिक पुष्ट होता है। बहुत दिनों से उपेक्षित 'रसायनराज' लसुन अब सचमुच 'रसायनराज' माना जा रहा है! जीभ जिस चीज को पसन्द करती है, वही चीज खायी जाती है; वह अच्छी है या बुरी इसका कोई खयाल नहीं, खयाल है इन्द्रियतर्पण का। अब तो 'नंगाक्लब' खुलने लगे हैं और नंगे ही स्नान की परिपाटियाँ बाँधी जाने लगी हैं; और यह सब सभ्यता के नाम पर! आज की स्त्रियाँ 'नारी' बनना नहीं चाहतीं 'रमणी' बनने की ही धुन उनके सिर पर सवार है; मातृत्व को भूल गयीं हैं, बस तितलियाँ बनी फिरती हैं। चार्वाक का वह सिद्धान्त कि खाओ-पीओ, मज़े करो, न मिले तो ऋण लेकर मौज़ मनाओ; क्या आज पूरा-पूरा अमल में नहीं लाया जा रहा है? आज भी जातीय संगठन इसीलिये है कि निर्बलों को मिटा दिया जाय। भारतादि देशों का शोषण करके ही जड़वाद के हिमायती देश क्या आज पुष्ट नहीं? शोषित जातियों के हाहाकार से ही क्या आज की कुछ जाति का उत्सव नहीं पलता? आज का एक वर्ग दाने-दाने के लिये मुहताज है और दूसरा वर्ग उस की होलियाँ मनाता है! क्या आज स्वदेश प्रेम की बलि-वेदी पर विश्वबन्धुता का बलिदान नहीं किया जा रहा है? मिटती मानवता की ओर ध्यान देने के लिये आज किस को फ़ुरसत है? अब तो विश्व की साँसें बर्बरता से अवरुद्ध होती जा रही हैं। जड़वाद से आज का मानव इतना जड़ बन गया है कि अपनी जड़ आप ही काटता जा रहा है, पर इसे पता तक नहीं!

आज के जड़वाद के अनुयायी यह कहते हुए बड़े गर्व का अनुभव करते हैं कि आज के विज्ञान ने कलियुग को कल-युग बना दिया है।

परन्तु उन्हें यह मालूम होना चाहिये कि कलियुग को ठीक-ठीक कलि-युग (कलि=कलह का युग) बनाने में 'कल' का ही सर्वथा हाथ है। मालिक-मजदूर का संघर्ष, जमींदार-किसान का संघर्ष, अमीर-गरीब का संघर्ष, पति-पत्नी का संघर्ष, यह सब तो जड़वाद की ही देन है? और अब तो राव-कमेटी की कृपा से भाई-बहन के संघर्ष का भी आविष्कार होनेवाला है! पूँजीपति और श्रमजीवी का वैमनस्य किसने गढ़ा है, क्या जड़वाद ने नहीं?

ये कलह नैतिक क्षेत्रों में भी प्रादुर्भूत हो गये हैं। आज के बुद्धिवाद के शैतान ने विश्वास को मटियामेट कर डालने की व्यवस्था की है। आज नारी और नर दोनों मिलकर एक ईकाई को पूर्ण नहीं बनाते, बस दोनों में प्रतिद्वन्द्विता चल रही है; नारी न तो नर की शक्ति बनने को तैयार है और न तो नर उस का आश्रय। इसी तरह धर्म और राजनीति एवं सदाचार और कला का गठबन्धन तोड़ा जा रहा है। अब ये दोनों एक दूसरे के पूरक नहीं माने जाते; यह आवाज उठने लगी है कि पहिले नीति से स्वराज्यादि पा लो, धर्म की पूछ पीछे हो लेगी; और यह कि कला कला के लिये है, भला जीवन से उसका क्या सम्बन्ध हो सकता है? स्वभाववाद ने आदर्शवाद को दबा डाला है, उस के सीने पर सवार है। यही कारण है कि—उमर खय्याम और उस की रुबाइयाँ आज आदर पाने लगी हैं। कई शताब्दियों से उपेक्षित वह अशिव कवि अब विश्वकवि माना जा रहा है, और उस की वह कवितायें—जो नैतिक पतन का पूर्ण पक्षपात करती हैं, उस का रोचक चित्रण कर मनुष्यों में उन की कमजोरियाँ उभाड़ती हैं, आसुरी शक्ति का दौत्य एवं प्रतिनिधित्व करती हैं और उस पथ का निर्देश करती हैं जिस से कि हम को अवश्य बचना है—रहस्य-वादी मानी जाने लगी हैं? इसी तरह अनुभव एवं तर्क का युद्ध, बुद्धि एवं हृदय का युद्ध जारी है। त्याग और तपस्या को भोग एवं विलासिता ने पराजित कर दिया है। रोडवर्ड कारपेन्टर

के शब्दों में Every man for himself—प्रत्येक व्यक्ति अपने लिये है—का सवाल उठ पड़ा है। कर्त्तव्य का स्थान अधिकार लेता जा रहा है और आत्मसमर्पण का स्थान स्वार्थ। 'सादा-जीवन उच्च विचार' के स्थान को 'भड़कीला जीवन थोथा विचार' ने छीन लिया है।

बुद्धि-प्रधान विज्ञान को हृदय कहाँ? इसलिये उस के उपासकों ने बड़ी निर्दयता से कोमलता, सहृदयता, धार्मिकता, परदुःखकातरता और सुजनता का बहिष्कार कर दिया है।

जड़वाद सचमुच एक खतरा है। इसीलिये पौरस्त्य ऋषियों ने बहुत पहिले से ही इस पर रोक लगा दी।

आज के विचारकों का समर्थन

आज के भी कुछ सूक्ष्मदर्शियों ने अधिभूत भावना की पूतना को परखा है। जान में या अनजान में उन्होंने मनु के ही पदचिह्नों का अनुसरण किया है, उन्हीं के अर्थ को अपने शब्दों में दुहराया है। विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा था कि जड़वाद मानवता के वास्तविक स्रोत को विषमता प्रदान कर रहा है—"Western civilization is poisoning the very fountain-head of humanity."

काउंट टालस्टाय ने लिखा है कि यूरोप की सभ्यता की मैं तारीफ क्यों करूँ? क्या इसलिये कि इसके पुजारियों ने रेल-तार आदि के आविष्कार किये हैं? मुझे तो इन आविष्कारों के साथ-साथ दानवता का भी आविष्कार होता दीखता है। ये आविष्कार मनुष्य में नीचता की भावना को भरते हैं, उनकी बुद्धि को अच्छी बातों से हटाकर निकृष्ट बातों की ओर प्रेरित करते हैं—"Why should I place civilization in Europe? Is it because Europeans have created for themselves artificial needs and because they have invented the railway, the telegraph,

the telephone, and I know not what besides ? To me all these acquisitions of so called civilization seem the invention of barbarism. They serve and pander to all that is basest in man. I fail to see that they confer upon him any sort of moral superiority, while I perceive that, on the other hand, the use he makes of his intelligence is most often for evil and not for good." (Tolstoy).

मेरी करेली ने साफ शब्दों में स्वीकार किया है कि हमारी यह पाश्चात्य सभ्यता, जो जड़वाद की देन है, नाम-मात्र की सभ्यता है, उसे सभ्यता कहना भी सभ्यता जैसे महान् शब्द का अपमान करना है। अपने अभिमान के प्रदर्शन के लिये दम्भ को सभ्यता के चोले में छिपा कर रखा गया है; हम सभ्य हैं, यह कहना केवल दम्भ है। सच पूछा जाय तो हम परम असभ्य हैं। जातीय पक्षपात, द्वेष, ईर्ष्या, लोभ, परस्पर एक दूसरे को गिरा कर सामाजिक या व्यावसायिक जीवन में आगे बढ़ने की इच्छा, विजाति के शोषण की वृत्ति आदि भाव हमारे असभ्य होने के अकाट्य प्रमाण हैं—"Civilization is a great word. It reads well—it is used everywhere—it bears itself proudly in the language. It is a big mouthful of arrogance and self-sufficiency. The very sound of it flatters our vanity and testifies to the good opinion we have of ourselves. We bost of civilization as if we are really civilized, just as we are mere savages still; savages in "the lust of the eye and pride of life," savages in our national prejudices and animosities, our jealousies, our greed and

malice and savages in our relentless efforts to over-reach or pull down each other in social and business relations.

प्रोफेसर हक्सले ने गहरे छान-बीन के बाद यह निर्णय दिया कि आधुनिक सभ्यता में न तो चिरजीवन के लक्ष्य का कहीं पता है और न उचित उन्नति के आदर्श का ही। यदि इस सभ्यता या ज्ञानलाभ का लक्ष्य केवल यही है कि प्रकृति पर बलात्कार एवं अर्थ और काम की वृद्धि की जाय, तब मैं निःसङ्कोच कह सकता हूँ कि आज शीघ्र ही उस धूमकेतु के उगने की आवश्यकता है जिससे कि इस सर्वग्रासी सभ्यता का मूलतः नाश हो जाय—"Even the best of modern civilization appears to me to exhibit a condition of mankind which neither embodies any worthy ideal nor even possesses the merity of stability. I do not hesitate to express the opinion that if there is no hope of a large improvement of the condition of the greater part of the human family; if is true that the increase of knowledge, the winning of a greater dominion over nature which is its consequence and the wealth which follows upon that dominion, are to make no difference in the extent and the intensity of want with its concomitant physical and moral degradation amongst the masses of the people, I should hail the advent of some kindly comet which would sweep the whole affair away as a desirable consummation."

इस सम्बन्ध में गेनो की देन अत्यन्त सराहनीय है। उन्होंने बड़ी

बड़ी पोथियाँ लिखकर जड़वाद की दानवता का बड़ा सफल चित्रण किया है। उनकी पुस्तक का कोई उद्धरण न देकर मैं तो अनुरोध करूँगा कि सबों को उनका आद्यन्त पारायण करना चाहिये ; क्योंकि उनके सभी अंश उद्धरणीय ही हैं।

स्वामी रामतीर्थ ने, जिनको कि अमेरिकावासियों ने 'जीवित ईसा' (Living Christ) कहकर पुकारा था, बड़े ज़ोरदार शब्दों में भारतीयों से अपील की थी कि कम से कम वे जड़वाद के जादू से अवश्य बचे रहें, आध्यात्मिकता के सिंहासन पर ईंट, पत्थर, कोयले को आसीन न करें, काच की चकाचौंध में हीरे की उपेक्षा न कर बैठें।'

हाँ, तो जड़वाद की पूतना सचमुच दूध के बहाने विष को ही हमारे जीवन में उलेड़ने आयी है। जड़वाद से मानव-जीवन बिलकुल व्यर्थ हो जाता है, यहाँ तो सुख मिलता ही नहीं ; मरने पर भी बड़ी दुर्गति उठानी पड़ती है। कहीं किसी उग्र पाप से पत्थर बन गया, तब तो उसे फिर मानव चोला पाने के लिये पता नहीं कितने लम्बे-लम्बे युग बिताने पड़ेंगे ? केवल सौ वर्ष की असावधानी से यह असंख्य वर्षों का क्लेश मोल लेना कितनी बड़ी नासमझी है। ऋषियों ने जड़वाद से होनेवाली इन वरबादियों को परखा और इसे पातक (पथच्युत करनेवाला) कह इससे मानवों को सावधान कर दिया।

महायन्त्र की अपूर्व एवं विनाशकर देन

मैं पूछता हूँ महायन्त्रों का प्रवर्तन हमारे लिये क्या दे सकता है और आज तक उसने क्या दिया है ? यही न कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द इन पाँच विषय-रसों का प्राचुर्य और शारीरिक काम की कुछ कमी ?

जड़वाद गर्व से मेरे उत्तर में कह सकता है कि मेरी इस देन को आप कम महत्त्व न दीजिये। क्या मैंने चिर-क्लान्त और चिरपिपासित राही की थकान और प्यास मिटाकर उनका बहुत बड़ा साथ न दिया है ?"

किन्तु, मैं कहूँगा—'जड़वाद ! यह तुम्हारी धारणा बिल्कुल मिथ्या है, अत्यन्त भ्रम है। इन विषय-रसों से इसकी प्यास कभी बुझने की नहीं, युग-युग से तो पीता आ रहा है पर क्या आज तक वह बुझ सकी ? नशीले हल्के विष से क्या कभी किसी की प्यास बुझी है ?'

तुम पूछोगे—'यदि जीव की प्यास इन से नहीं बुझती, थकान नहीं जाती, तब इस ओर वह बढ़ता ही क्यों है; और पीकर फिर सन्तोष की साँसें क्यों लेता है ?'

यह उसकी कमजोरी और नासमझी है जड़वाद ! मदिरा पी लेने के बाद जब नशा हो आती है तब मनुष्य का खयाल लगी भी प्यास की ओर नहीं जाता। विषय-रस की घूँटें लेने के बाद जब तक उसकी मादकता का असर रहता है, नासमझ मानव प्यास को मिटी समझता है। असर हटते फिर प्यास सताती है. फिर उसे ही पीता है, फिर खुमारी में आ जाता है; ज्यों-ज्यों पीता जाता है त्यों-त्यों उसकी प्यास बढ़ती जाती है और उसकी समझ की आँखों पर गहरा परदा पड़ता जाता है। फिर वह भूल जाता है कि वह कौन है, किस देश का वासी है, कहाँ है और किस देश में जाना है।'

'नशाखोर नशा चढ़ने पर नाले में पड़े रहने में ही सन्तोष की साँसें लेता है, तो उसकी यह साँसें क्या सचमुच सन्तोष की होती हैं जड़वाद ?'

अधिदैव भावना के महत्त्व का उपसंहार

ऋषियों की ऋतम्भरा प्रज्ञा ने तथ्य का ही साक्षात्कार किया था। उन्होंने जीव की थकान और प्यास को अवश्य महसूस किया, साथ ही साथ इनके मिटाने में उन्होंने विषय-रस को बिलकुल असमर्थ पाया। इसीलिये उन्होंने जीव को शम-दम की शिक्षा दी; उन्हें सावधान कर दिया—"तुम थके हो सही, प्यासे भी हो; पर विषैले विषय-रस को न पीना, इससे तुम्हारी प्यास घटने के बदले उलटे बढ़ जायगी और

तब तुम्हारे प्राण सर्वथा संकट में पड़ जायेंगे। तुम्हारा जीवन अनन्त वर्षों का है उनमें मानव-जीवन के सौ वर्ष उतने नगण्य हैं जितना कि सौ वर्षों में एक घण्टा। एक घण्टे के दुःख से जब सौ वर्ष का काल बिलकुल सुखद बनाया जा सकता है तब समझदारी यही है कि एक घण्टे के दुःख को धीरता से सह लिया जाय। तुम बस यही एक घण्टा प्यास और थकान का कष्ट और बरदास्त कर बढ़ते चलो, इसके बाद तो तुम्हें वह अमर रस मिलेगा कि सदा के लिये भूख-प्यास एवं थकान से छुट्टी मिल जायगी।'

पर नासमझ मानव एक घण्टे के लिये भी विषय-रस से परहेज नहीं रख सकता, इसलिये ऋषियों ने मानवों को अधिदैव-दृष्टि का एक ऐसा नुस्खा दिया कि जिसके साथ उचित मात्रा में विषय-रस का सेवन अमृत का काम करता है। इस अधिदैव भावना के द्वारा आधिभौतिक उन्नति तो, जो जड़वाद का चरम लक्ष्य है, सिद्ध होता ही है; आधिदैविक और आध्यात्मिक उन्नतियाँ भी, जिनकी कल्पना भी जड़वाद नहीं कर सकता, मिल जाती हैं। सच पूछिये तो ऋषियों ने अधिदैव दृष्टि जैसी अमूल्य वस्तु देकर हमारे हाथ में वह महाशक्ति दे दी है, जिससे आध्यात्मिक एवं आधिदैविक पूर्णता तो प्राप्त होती ही है, आधिभौतिक वैभव भी हमें उतनी तादाद में मिलेगा जितना कि जड़वाद से कभी सम्भव नहीं। कुछ मिसाल ले लें—

कार्तवीर्यार्जुन में मानवसुलभ लोकैषणा जागी; उनकी इच्छा हुई कि सारी दुनिया उनका लोहा मान ले। इसकी पूर्ति के लिए उन ने अधिदैव का ही आश्रयण किया, भगवान् दत्तात्रेय की उपासना की। और उनकी वरद मुद्रा से वे विश्वभर पर विजय पा गये।

मैं पूछता हूँ, कार्तवीर्यार्जुन अपनी इस इच्छा की पूर्ति के लिये कहीं जड़वाद का आश्रय लेते और आज का समग्र वैज्ञानिक वैभव उन्हें मिल भी जाते, रेल, तार, बिजली, वायुयान, टंक, रेडियो उन्हें प्राप्त भी हो

जाते ; तो क्या वे विश्व-विजयी बन पाते ; उन दिनों, जब धनुर्वेद पूरे विकाश पर था ? केवल एक साधारण सा अग्निबाण ही इनके समस्त साधनों को ध्वस्त कर देता, इनके गोले, इनके वायुयान इन्हें ही खा डालते ! जड़वाद के ये वैभव जब आज ही किसी को विश्व-विजयी नहीं बना पाते तो उन दिनों कार्तवीर्यार्जुन का वह काम और भी मुश्किल था। अतः अधिदैव दृष्टि से जो काम थोड़ी ही देर में थोड़े परिश्रम से सम्भव है, वह जड़वाद से किसी भी हालत में कभी सम्भव नहीं।

मान लिया जाग कि जड़वाद किसी तरह कार्तवीर्यार्जुन के सिर पर विश्व-विजय का सेहरा पहना भी देता, पर इस विश्व-विजय से जब उन्हें नैसर्गिक[१] गर्व हो आया और वे ब्राह्मणों से प्रतिस्पर्धा करने लगे, जिसमें कि उनका विनाश छिपा था ; तब जड़वाद का कोई प्रयोग क्या इस ओर से उन्हें निवृत्त कर सकता था ?

यह अधिदैवोपासना का ही दूसरा नतीजा था कि वायुदेव ने अपने लम्बे व्याख्यान से कार्तवीर्यार्जुन को ध्वंस के पथ से खींच लिया। इसतरह वे आधिभौतिक उन्नति की पूर्णता के साथ-साथ आधिदैविक समग्र वैभव को पाकर अपने 'लक्ष्य' को पा गये।

आज का जड़वाद बिजली, अग्नि, वायु और पृथ्वी की कुछ विशेष शक्तियों की जानकारी से कुछ आविष्कार कर सका है, किन्तु जड़वाद इन मूल तत्त्वों का आविष्कार कभी नहीं कर सकता ; दुनिया में अग्नि ही न रहे, वायु ही न रहे, बिजली ही न रहे, तो क्या जड़वाद में वह बल है कि वह इनका आविष्कार कर दे ? पर अधिदैववाद के लिये यह कभी असम्भव नहीं। एक बार सूर्य, वायु, अग्नि दिवोदास राजा को नीचा दिखलाने के लिये उनके राज्य से अन्तर्हित हो गये। दिवोदास

१—"यो वै भवति यः श्रेष्ठतामश्नुते स किल्विषं भवति"।
(ऐ० ब्रा० १, १३)

राजा में अधिदैव बल था। वह स्वयं सूर्य, वायु, अग्नि बन कर प्रकाश देने, बहने एवं जलने लगे, नये सिरे से इनने सूर्यादि का आविष्कार कर डाला। उस आविष्कार से और आज के आविष्कार में कितना अन्तर है?

विश्वामित्र ने तो नयी दुनिया का आविष्कार कर डाला था!

हमें अपने ऋषियों की ऋतम्भरा प्रज्ञा पर विश्वास होना चाहिये।

सर्वसाधारण को आज के जड़वाद से सहूलियत मिली या उन दिनों के अधिदैववाद से?

यहाँ यह प्रश्न उठाया जाता है कि उन दिनों, जब अधिदैव का बोलबाला था, साधारणवर्ग को वह सहूलियत न मिली थी, जो आज के जड़वाद ने उसे दे रखी है?

कहा जा सकता है कि आज भी निर्धन व्यक्ति के लिये विज्ञान का आविष्कार नहीं के बराबर है। भारत के किसी भी साधारण व्यक्ति को बिजली, हवाईजहाज का कोई उपयोग प्राप्त नहीं। बल्कि जो वर्ग इसका उपयोग करता है, वह इसके खूनों को चूसकर ही।

स्पष्ट बात है कि आज के विज्ञान ने सर्वसाधारण के लिये सुख की सुविधा नहीं अपितु दुःख की ही सर्वग्रासी व्यवस्था की है। जड़वाद की घातकता का घोर रूप इसी वर्ग पर सर्वाधिक प्रकट हुआ है। बंगाल में लाखों की तादाद में भुक्खड़ तड़प-तड़पकर मर गये हैं, उनमें साधारण जनता ही तो केवल थी? आज धन सिमिटकर कुछ के हाथों में कैद हो गया है, वे भले ही किसी तरह भूख, हैजा, प्लेग की दवा कर सकें; पर इन असहाय साधारण वर्ग पर मुसीबत के कैसे पहाड़ ढह रहे हैं? एक तो विज्ञान ने साधारण जनता के पास उतने पैसे ही न रहने दिये कि वह अपना पेट भर सके। इसी बीच में घूसखोरी की भयङ्कर कृत्या भी मुँह-वाये आ पड़ी। अन्न के लिये घूस दो, वस्त्र के लिये घूस दो नहीं तो कफन भी मिलना मुश्किल है। सिनेमा में घूस दो, रेल में घूस दो, कुली को

सिर पर चढ़ा लो। कहीं रोगी बनो तो मरो। अस्पतालों की आशा महज मूर्खता है; वहाँ तो डाक्टर से लेकर मेहतर तक को घूस चाहिये। भला जिन्हें पेट के भी लाले पड़ रहे हैं, वे घूस कहाँ से देंगे; और तब मरना ही उनके लिए एकमात्र दवा नहीं रह जाती ?

जड़वाद ने दुनियाभर के विनाश के लिये जो बीज बोया था, वह फूट पड़ा है, पौधा तैयार हो गया है और अब तो इसके विषाक्त फल भी लग रहे हैं। साधारण वर्ग तो ध्वस्त हो ही रहा था, अब सभी वर्ग को उसका कटु अनुभव हो रहा है। क्या आज सभी देश परेशान नहीं ? हाहाकार की ध्वनियाँ क्या बङ्गाल के कङ्कालशेष केवल कुछ भुक्खड़ों से ही उठ रही हैं; इनकी व्योमभेदी चीख की तरह क्या दुनिया के कोने-कोने से चीख नहीं फूट रही है ? आज न तो किसी की जान सुरक्षित है न किसी का माल। आज के अस्त्र स्त्रियों, बच्चों, बूढ़ों एवं तटस्थ व्यक्तियों का कोई बचाव नहीं करते। वर्तमान और भविष्य के प्रत्येक क्षण में घोर आतङ्क का कुहरा छा रहा है। पाश्चात्य विपश्चित् लुईजिंग के शब्दों में आज की विपत्ति का बड़े सुन्दर ढंग से चित्रण हुआ है। वे लिखते हैं—"सभी के हृदय में भय समाया हुआ है। कोई वस्तु व्यवस्थित नहीं है। आज की तरह सामाजिक व्यवस्था का उच्छेद पहले कभी नहीं हुआ था। साहित्य, कला, शासन आदि सभी में अवनति के कुलक्षण नज़र आ रहे हैं। लोगों में घृणा के भाव भरे जा रहे हैं। व्यक्तित्व दूषित हो उठा है। राष्ट्र के दोष से अन्तर्राष्ट्रिय परिस्थिति भी भयावह हो गयी है।"

जड़वाद से आज जब सम्पन्न व्यक्ति भी सुखी नहीं, तब सर्वसाधारण की बात क्या है ? अतः यह कहना कि जड़वाद ने आज सबके लिये सुख के साधन दे दिये हैं, बिलकुल उलटी बात है।

हाँ, उन दिनों, जब जड़वाद की जगह अधिदैव का बोलबाला था, समूची दुनिया सुखी थी, किसी को किसी चीज़ की कमी न थी। उन

दिनों के सभी शासक शोषक न होते थे। वे बड़े से बड़े उपद्रव से आप लड़ते थे, स्वयं चाहे पिस जाते थे पर साधारण जनता पर कोई आँच न आने देते थे। सारी प्रजा सुख की नींद सोती थी और शासक-मण्डल जागरूक बन उनकी निगरानी करता था। महाभारत जैसा प्रलयङ्कर युद्ध हुआ, पर न तो साधारण जनता पर इसका कोई बुरा असर हुआ, न बच्चों, बूढ़ों एवं अबलाओं पर ही कोई आफत ढही।

मार्कण्डेय पुराण में एक कथा आती है कि किसी ब्राह्मण की पत्नी को कोई असुर चुरा ले गया। वह उस समय के सम्राट उत्तम के पास पहुँचा। राजा ने जब हुलिया पूछा तो वह इतना भी न बतला सका कि कौन, किधर, क्यों ले गया। बड़ी दौड़ के बाद राजा ने उसकी पत्नी का पता लगाया। जिसकी पत्नी खो गयी थी, उसके लिये तो बस इतना ही पर्याप्त था कि वह राजा के पास संवाद पहुँचा दे, इसके बाद वह छुट्टी पा गया—और सारी परेशानियाँ राजा के जिम्मे रहीं।

राम के राज्य में ब्राह्मण का बच्चा मरा। उसने उसका दोष राम के माथे मढ़ा और राम ने उसके लिये आसमान उठा लिया। राम के राज्य में एक धोबी को बस इसी बात का दुःख था कि राम रावण के यहाँ रही सीता को रख रहे हैं। राम ने जिन्दगी भर परिताप में रहना पसन्द किया, पर यह पसन्द न किया कि उनकी प्रजा इस बात के लिये भी दुःखी रहे। पहिले का शासक-मण्डल, जिसमें कि अधिदैव भावना थी, अपने सुखों का बलिदान कर सर्वसाधारण को सुख पहुँचाता था और आज का शासक-मण्डल सर्वसाधारण का खून चूसकर अपने को सुखी देखना चाहता है! यह कितना महान अन्तर है! पर हमारी आँखें इन साफ बातों को भी उलटी परखती हैं; यह क्या जड़वाद का फिसाद नहीं?

उन दिनों न रोग था न शोक, कोई भी अनर्थ किसी को छू तक नहीं सकता था—"**निरामया विशोकाश्च**", "**नानर्थं कस्यचिद्-स्पृशत्**।" (वा० रा० यु० कां०)। न कोई चोर था न व्यभिचारी—

"न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः। नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः" (छा० उ०)। किसी को किसी बात की कमी न थी, जो जिसे चाहता था उसे वह अवश्य मिल जाता था—**"सर्वे सर्वसिद्धार्थाः" (मनुस्मृ० १, ८३)।** जब सब लोग 'सर्व-सिद्धार्थ' थे, तब उन्हें क्या रेल जैसी सवारी, बिजली जैसा प्रकाश ही नहीं मिल सकता था ? सभी धनी थे, सभी रथ एवं मणि रख सकते थे। इस तरह उन्हें समग्र ऐहलौकिक सामग्री प्राप्त थी, पर यह सुख-सामग्री हमारे लिये ही सब कुछ है, वे लोग तो आधिदैविक एवं आध्यात्मिक जैसे सच्चे सुख के अभ्यस्त थे। हम लोग जिसे सुख कहते हैं, यह तो सुखाभास है; सच्चा अनश्वर सुख तो उन्हें ही प्राप्त था। तभी तो वे अष्टसिद्धियों को भी ठुकरा देते थे। यह तो हमारी ही अज्ञता का परिचायक है कि रेडियो न सुनने के कारण हम उनके लिये हमदर्दी प्रकट करते हैं। यह तो वैसी ही बात है कि जैसे कोई ताड़ी को सब से मीठा समझ उसे न पीने के कारण पीयूषपायी देवताओं के लिये हमदर्दी प्रकट करे ! रेडियो से तो हम लँगड़े संगीत ही सुन सकते हैं, झूठा युद्ध-समाचार पा सकते हैं, पर अष्टसिद्धियों से तो स्वर्गीय संगीत सुना जा सकता है, युद्ध ही क्या दुनिया का सभी समाचार प्रत्यक्ष देखा और सुना जा सकता है। मनुष्य सूर्य की किरणें पकड़ सूर्यलोक को जा सकता है। एक क्षण में दुनिया के दूसरे छोर पर पहुँच सकता है। पत्थर जैसी मूर्च्छित योनि को चारा खिला सकता है और भैंसे को पक्का वेदपाठी बना सकता है। आग, बवन्डर और बिजली के चैतन्य उसके वशवर्ती हो जाते हैं। अष्टसिद्धियों की यह करामात, जो अधिदैव की देन हैं, कभी अधिभूत से सम्भव नहीं। पर उन दिनों यह अष्टसिद्धि-जन्य सुख-रस भी फीका समझा जाता था, वह अमर-रस के जानकार और इच्छुक रहे इसलिये इस लघु-परिधि से ऊँचा उठना चाहते थे। अतः यदि आज के प्राणी उन दिनों के लोगों के लिये जो तरसते हैं, हमें तो इसी पर तरस

आनी चाहिये। अच्छा तो यह है कि हम भी इस घातक रस को छोड़ उसी परम-रस की ओर बढ़ें, जिधर मेरे पूर्वज बढ़े थे।

यह तो रेल, तार, बिजली आदि के औचित्य के सम्बन्ध में विचार हुआ। पर इसका मतलब यह नहीं कि पहिले किसी को बिजली के प्रकाश का पता ही नहीं था और न यह कि उन दिनों केवल एक ही विमान रहा। उन दिनों यह चीजें अवश्य रहीं और उतनी पूर्ण रहीं कि जिसकी कल्पना भी आज का जड़वाद नहीं कर सकता। मिसेज ह्वीली विलौक्स ने लिखा है कि वैदिक ऋषियों को विद्युत्, रेडियो, एलेक्ट्रान्स, हवाई जहाज इत्यादि सभी बातों का पता था, ऐसा प्रतीत होता है—"Electricity, Radium, Electrons, Airship, all seems to be known to the sirs who fouud the Vedas."

बिजली और तार

डाक्टर बम्मन आर. कोकटनूर के अनुसन्धान ने तो यह सिद्ध कर दिया है कि विद्युदुत्पादक-यन्त्र (Battery) का आविष्कारक बाल्टा नहीं, यह तो अगस्त्यमुनि की देन है। उज्जैन के किसी राजा के पुस्तकालय में अगस्त्य मुनि की यह पुस्तक मिली है, यह हाथ से लिखी हुई है और इसका लिपि-काल १५५० ईस्वी निर्णीत हुआ है। उसमें विद्युत् उत्पादन की प्रक्रिया इस तरह लिखी है—एक स्वच्छ ताम्रपत्र को तूतिया से आवृत कर मिट्टी के पात्र में रखना चाहिये। उसके बाद उसे लकड़ी के बुरादे से ढँक देना चाहिये। इसके बाद इसे उस जस्ते से स्पर्श कराना चाहिये जिसमें पारा रगड़ा गया हो। बस प्रकाश प्रकट हो जायगा। इस तरह के यदि सौ पत्र जोड़ दिये जाँय तो वह बहुत बड़ी शक्ति का आगार हो जायगा। इस प्रकाश को 'मित्र-वरुण' कहा गया है। आज के तार (Telegrams) में बिजली की इसी प्रक्रिया का उपयोग होता है।

'माधुरी' के किसी अङ्क में मैंने यह भी पढ़ा था कि उदयपुर राज्य

'करेड़ा' के राजा बहादुर के चित्र-संग्रहालय में एक ऐसा चित्र मिला है कि जिससे प्राचीन भारत में सर्चलाइट के होने की स्पष्ट प्रतीति होती है। उस चित्र के नीचे "घटाला का शिकार की छवि" लिखा है। उसमें दिखलाया गया है कि एक राजा चार सेवकों के साथ अँधेरी रात में हिरणों का आखेट कर रहा है। एक सेवक के बगल में गोल और लम्बा एक पात्र है। उससे धतूरे की आकृति की तरह प्रकाश की धारा निकल रही है। आधुनिक 'सर्चलाइट' से उसकी पूरी समता है। इस चित्र का समय तो अभी ठीक-ठीक न आँका जा सका है, किन्तु फिर भी यह कहा जा सकता है कि यह कई सौ वर्ष पुराना है।

इङ्गलैण्ड के प्रख्यात प्रोफेसर कार्टर ने मिश्र के लक्जार (Luxor) शहर में विद्यमान ट्यूटनखेमन (Teutenkh-Amen) की समाधि को, जो छ हजार वर्ष की बतलायी जाती है, खोदा था। उसमें उन्हें बहुत सी ऐसी पोथियाँ मिलीं, जो मिस्र की प्राचीन भाषा में लिखी गयी हैं। एक जगह उन्हें एक ऐसा उल्लेख मिला है जिससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि आज से छ हजार वर्ष पहले भारत में बिजली के प्रकाश के एवं रेडियो या लाउड-स्पीकर के जानकार रहे। बतलाया गया है कि पूना के दो सहोदर बन्धु अपने यहाँ के राजा से विरोध हो जाने के कारण मिस्र देश में जा बसे थे। वहाँ उन दोनों ने अथर्ववेद के 'रहस्यकोश' के आधार पर विद्युत् शक्ति के द्वारा प्रकाश (Electric light), तार, टेलीफोन एवं लाउडस्पीकर की व्यवस्था की थी, जिससे वहाँ के राजा एवं प्रजा ने उनका बड़ा सम्मान किया था। इस तरह जब आधुनिक अनुसन्धानों से यह सर्वथा प्रमाणित हो जाता है कि प्राचीन भारत विद्युत्-शक्ति (Electricity) से पूर्णतया परिचित था, तब यह कहा जा सकता है कि "**विद्युत्प्रदग्धैः काष्ठैः (अधि० १४ अ० १ प्रक० १७७)** से कौटिल्य का मतलब इसी आविष्कृत बिजली से है।

पुराणों और वेदों में भी बिजली का बड़े विस्तार से वर्णन मिलता

है। संस्कृत के प्रथमा के छात्र भी जानते हैं कि बिजली का आविर्भाव जल से होता है—"अबिन्धनं विद्युत्।" ऋग्वेद में अग्नि के लिये कहा गया है कि तुम जल से बिजली रूप में प्रकट होते हो—

त्वमद्भ्यः (ऋग्० ३,११)

हाल ही में यह बात प्रकाश में आयी है कि तिब्बत में बिजली बेतार का तार आदि का उपयोग आए दिन भी होता है। यह वस्तुएँ आज के विज्ञान की देन नहीं है, क्योंकि उनके निर्माण में एक स्वतन्त्र प्रक्रिया का हाथ है, जो आधुनिक प्रक्रिया से सर्वथा भिन्न एवं सत्य, शिव और सुन्दर है। इतिहास बतलाता है कि तिब्बत की सारी सभ्यता भारत की देन है। अतः कहा जा सकता है कि तिब्बत ने इन बिजली आदि वस्तुओं को भारत से पाया है। भारत शताब्दीव्यापी नींद में पड़ विदेशी आक्रामकों की अवहेलना करता रहा है अतः इसने उन वस्तुओं की यादें भी भुला दीं, पर आक्रमणविरहित तिब्बत ने उन्हें जिन्दा रखा है। वी० डी० अवनें ने अपने तिब्बती अनुभवों का वर्णन 'दी जर्नल आफ दी विहार ऐन्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी' (Vol. XXVI, Part II) में किया है, जिससे पता चलता है कि घड़ियाल की चोट से वहाँ एक प्रकाश पैदा होता है, जो एक गोल ताम्रपत्र पर चिपकाये गये प्रस्तरविशेष से प्रतिफलित होता है। उस चोट से एक विद्युत्शक्ति प्रकट होती है, जो ऊपर फैलाये गये उस ताम्बे के तार पर दौड़ती है, जिससे कि इस बलनेवाले पत्थर का कनेक्शन होता है[१]।

१—Just at its entrance the Che-sho picked up from the ground what looked like a metal gong about 9" in diameter to which was attached a wooden hammer. The metal from which the gong was made appeared to be polished bronze,

जिस मठ में प्रकाश की यह व्यवस्था है, वह हजारों वर्ष का पुराना है। वह घड़ियाल किस धातु से बना है, इसका पता वहाँ वालों में से शायद ही किसी एक-दो को हो।

---

through which ran a highly ornamental, decorative tracery of thin silver thread. He raised the mallet and struck the gong once. The result was startling to say the least of it, for half a dozen lights of a strange green colour crept slowly into existence, dimly at first but in the space of a minute, they had grown in intensity to the equal of 500 candle power each.

They were situated 20 feet apart along the gallery walls, and hung from a kind of wooden bracket about 5 feet from the ground. At first I thought the mallet stroke on the gong was a signal to someone to put on the lights, but I was wrong as you will hear.

Having passed the last light we turned down another dark gallery, another stroke of the mallet and more sparks of light appeared, that gradually grew as large as the others, and so it continued for half an hour while we twisted and turned through many galleries until at last we emerged inte a vast space—an enormous cave the size I could not guess at—as—with the exception

रेडियो या बेतार का तार

वी० डी अवर्ने के एक अनुभव से, जो इसी जर्नल के १०९-१११ पृष्ठ पर प्रकाशित हुआ है, यह स्पष्ट हो जाता है कि तिब्बत में अपने ढंग का बेतार का तार होता है। उन्होंने लिखा है कि एक दोपहरी को मैं पेन्नू लामा के साथ, जो अपनी बड़ी उम्र की वजह "गोप्पू"

---

of a dim phosphorescent glow it was in darkness, but the odour and the heated atmosphere told me that we were close to the sulphur springs. Two heavier strokes with the mallet the gong and 50 points of light appeared, growing brighter and more intense until the vastness of the mighty dome was lit up in shimmering green showing the surface of a small lake somewhat oval in shape that might have measured 100 × 60 feet. The scene undoubtedly was striking and beautiful, but I was too much taken up with the lights and their method of production to pay attention to the sulphur lake and its product—I had seen several such before.

Approaching one of the lights, I found that it was but a lump of common stone-crystal about 4″ in diameter placed on a plate of some kind of metal, grey in colour, about half an inch thick and one foot in diameter, all of which was hung by bronze wire loops from an arm at right angles from a wooden upright. Over and

कहकर पुकारा जाता था, जंगकांग में बैठा हुआ बातचीत कर रहा था। क्षण में मैंने देखा कि उसने बातचीत का सिलसिला छोड़ दिया है और जैसे कुछ सुनने के लिए आकुल हो उठा है। तुरन्त ही उसने अपने छाती के पास से एक फोंफी निकाली, जिसकी लम्बाई ८ इञ्च और व्यास २ इञ्च था। उसने उसके एक शिरे का ढक्कन हटा उसे कान से लगाया। बाद उसने उसे औंधा रख दिया और उसके दूसरे छोर का ढक्कन हटा कानाफूसी जैसी आवाज़ में कुछ कहा। इसके बाद फिर उस यन्त्र को छाती के पास पोशाक में रख लिया। मैं इन बातों को देखकर अपनी उत्सुकता और विस्मय छिपा न सका। पेजू लामा ने बड़ी शान्ति से सूचित किया कि अभी-अभी मैं अपने छोटे भाई से बातचीत कर रहा था, जो यहाँ से २०० मील की दूरी पर है।

---

around the plate ran on ornamental tracing in thin lines of gold hieroglyphies resembling the characters on the cave writings. Needless to say, I was keen to get on explanation. The Che-sho willingly informed me that the sound of the gong penetrated the metal plate from which a vibrating force emanated, that had the effect of infusing to the crystal particles a bright luminous glow that gradually grew to a certain intensity in accordance with the volume of vibratory sound. If the gong was struck with a metal hammer, the glow would be so great that the human eye could not stand it without a head covering of thick cloth-and still neither the crystal or plate had a particle of heat. (P. 117-119)

मैं इन बातों को सुन बिलकुल भौचक्का हो गया था, इतना ही पूछ सका कि 'तुम्हारे छोटे भाई की उम्र क्या है ?' उसने बतलाया कि 'अभी उसके १२० वर्ष पूरे नहीं हुए हैं।' इसके बाद मैंने इस सम्बन्ध में कुछ और पूछ-ताछ करना उपयुक्त न समझा। किन्तु महीने के भीतर ही, जब कि बीमारी के बाद मैं कुछ चंगा हो गया, मैंने ज़ुर्मो (Dyurmo) से उस फोंफी के सम्बन्ध में पूछा। उसने मुस्कराते हुए बतलाया कि वह एक 'गुप्त दूत' है जिसका कि प्रचलन प्राचीन ग्याल-जोम के समय में अधिक हुआ था। यह यन्त्र जोड़ा बनाया जाता है; दोनों में रासायनिक प्रक्रिया एक सी होती है। अतः एक से की गयी आवाज जोड़े की दूसरी फोंफी से सुनी जा सकती है, किसी तीसरी फोंफी से नहीं। उस फोंफी के भीतरी हिस्से में एक छोटा सा नाज़ुक यन्त्र होता है, जो मिश्रित खनिज पदार्थ या वनस्पति के रस से तैयार किया जाता है। यह यन्त्र छाती के पास इसलिये रखा जाता है कि जब एक फोंफी में आवाज की जाती है तो दूसरी फोंफी के भीतरी हिस्से में एक कम्पन पैदा होता है जिसका कि स्पष्ट अनुभव हृदय को होने लगता है। कुछ अर्से के बाद भीतरी हिस्सा खराब भी हो जाता है, परन्तु रासायनिक उपचार से वह फिर पहले जैसा कामयाब बना लिया जाता है[१]।'

१—"While staying at the "Moru-amo-Lhaga", seated one afternoon in the Zug-kang with Pezu Lama, who on account of his great age went by the simple name of "Goppoo" (which means—"old man"), he suddenly stopped talking and held himself as if to listen—then from the breast of his "tin-lo" (robe) withdrew a small metal cylinder-shaped article about 8" in length by 2" in diameter, from one end of which he

तिब्बत के इस 'गुप्त दूत' को अवश्य ही बेतार का तार (wireless telegraph) कहा जा सकता है। अमृतबाजार पत्रिका में प्रकाशित एक लेख से भी इस दिशा में काफी प्रकाश पड़ता है।

---

removed a cover, and held the open end to his ear for a minute, then reversed it and opened the other end, into which he spoke a sentence or two in a whispering voice, after which he closed the instrument and returned it to his robe. On seeing my astonishment and curiosity that I could not hide—he calmly informed me that he was talking to his young brother who was a lama away north in the Tzagan Ora Mountains, over 200 miles distant from Moru-amo. I felt so confused on hearing this, that the only remark I could manage to think of was to ask him what might be the age of his young brother ? "Oh !" he replied in a slighting manner, "he is not 120 as yet." I thought it best not to ask any more questions, but during the months of my convalescence with the Dzurmo, I mentioned this matter. He smilingly informed me that is was a simple little "convenience" called the L'en Sang-wa (or secret messenger) at one time extensively in use with the ancient Gyal Dzom. The little instruments were made in pairs only, and by some process-en rapport with each other

दक्षिण हैदराबाद के पत्थरघाटी नामक गाँव में डा० महम्मदसाहब का एक प्राचीन पुस्तकालय है। उस पुस्तकालय में संस्कृत की कोई ऐसी पुस्तक मिली है, जिसमें रसायन सम्बन्धी बड़े अलभ्य विषयों का उल्लेख है, बहुतसी आश्चर्यजनक वस्तुओं के निर्माण की प्रक्रिया है। इस पुस्तक में दूर के समाचार पाने के लिये भी प्रयोग बतलाये गये हैं। इसके लिये दो पत्थरों पर एक सा रसायनों का मिश्रण किया जाता है। तब उनमें वह ताकत आजाती है कि एक पर कहे गये शब्द को दूसरा तत्क्षण प्रतिफलन करदे, चाहे वह कितनी भी दूर पर हो।

इस सम्बन्ध में उक्त तिब्बत की बातों से इस पुस्तक की बातें बहुत ही मेल खाती हैं।

शुक्रनीति ने राजाओं के लिये यह आवश्यक कर दिया था कि वह

---

in such a manner that certain very delicate vibratory action was set up by the voice on the fine tissues of the other. An instrument was no use without its particular pair. The chemical from which the tissues were prepared was of some kind of composite mineral, and vegetable extraction, the secret of which was jealously guarded by the ancient Gyal-Dzom, but it appears that the secret leaked out and seems to have filtered down the ages, but still carefully guarded by a few of the elect. I learned later that the tissues of the instruments deteriorated after a certain time, but could always be renewed by chemical treatment. [J. B. O. R. S. Vol. XXVI, Pt. 11] P. 109-111.

प्रत्येक दिन दशहजार कोश की खबरें अवश्य पा लिया करें—"अयुतं क्रोशानां वार्तां हरेदेकदिनेन वै"। (अ० १, ३६७)। इस बात से सहज ही यह सम्भावना होती है कि उन दिनों दूरदेश की खबरों के लिये कोई न कोई व्यवस्था अवश्य रही होगी, वह साधन चाहे योगसिद्ध हों, चाहे यन्त्रसिद्ध। नहीं तो शुक्रनीति की इस आज्ञा का कोई आधार ही न रहेगा। हो सकता है कि तिब्बत या हैदराबाद में उपलब्ध वे साधन उन्हीं दिनों से सम्प्रदायानुसार चलते आ रहे हों।

विमान

विमान के सम्बन्ध में आपका यह आशय प्रतीत होता है कि पुरातन युगों में केवल एक ही विमान था किन्तु आज के युग में असंख्य विमान हैं, अतः यह सिद्ध होता है कि कलियुग इस बात में पहले के युगों से बाजी मार ले गया है। आप से शब्दों में—"एक पुष्पक विमान की इतनी गाथा गायी जाती है, आज एक-एक देश में कई सहस्र वायुयान हैं।"

पुष्पक विमान की इतनी जो गाथा गायी जाती है, वह इसलिये कि आज के सहस्रों वायुयानों से भी उसकी किसी विशेषता का प्रदर्शन न हो सका और न कभी हो सकता है। कर्दम ऋषि के 'कामग' विमान की कल्पना भी जड़वाद नहीं कर सकता, इस लिये कि उस विमान का कर्दम ऋषि ने अधिदैवोपासना से आविष्कार किया था। भागवत में उसके लिये 'आविष्कार' पद का ही प्रयोग हुआ है—"कर्दमो योगमास्थितः। विमानं कामगं क्षत्तस्तर्ह्येवाविरचीकरत्॥ (श्रीमद्भा० ३, २३, १२

आज वायुयानों के द्वारा चन्द्रमण्डल पर जाने का खयाली पुलाव पकाया जा रहा है. बड़ी-बड़ी दिलचस्प कल्पनायें गढ़ी जाती हैं, इस स्वप्न के सच होने की कोई उम्मीद भी नहीं है। किन्तु पहले के विमान सभी लोकों में घूम आये थे। उन विमानों में कुछ ऐसी शक्ति होती थी

कि वे विरुद्ध वातावरण को भी अपने और अपने आरोही के अनुकूल बना लेते थे, जिससे न तो वे चन्द्रमण्डल में गल सकते थे और न सूर्य-मण्डल में जल सकते थे। आज के वायुयानों में ऐसी शक्ति का होना सर्वथा असम्भव है। आज की सबसे ऊँची उड़ान ५०० मील की है। जो वैज्ञानिक इतनी दूर उड़े, उन ने बयान दिया है कि उस ऊँचाई पर वायु इतनी घनी होती है कि साँस नहीं ली जा सकती, हृदय की गति बन्द होने लगती है, अङ्गों में कील-ठोकने जैसी मर्मान्तक पीड़ा होती है। वे जल्दी से उतर पड़े, तब कहीं जान बची।

अतः पहले के विमानों से आज के वायुयानों का कोई सन्तुलन नहीं हो सकता। मेघनाद के अनश्वर और अदृश्य विमान पर तो आज भी आवाजें कसी जाती हैं! शाल्व के पास भी एक लोहे का कामग यान था, जिसे देवता, असुर, मनुष्य कोई भी ध्वस्त नहीं कर सकता था। त्रिपुरासुर के तो नगर के नगर ऐसे रहे, जो हमेशा तारापथ में ही चक्कर लगाया करते थे। पुराणों में इसका बहुत विस्तार से वर्णन है तैत्तिरीय संहिता (६, २, ३, १—२) आदि में भी इसका जिक्र है। विमानों में से किसी एक की समता आज के समस्त भी वायुयान नहीं कर सकते।

और यह बात भी नहीं कि उन दिनों विमान इने-गिने थे, उनका तो ताँता लगा रहता था। वाल्मीकि ने लङ्का को 'विमान-मालिनी' लिखा है—"**स पाण्डुराविद्धविमानमालिनीं**।" यद्यपि विमान शब्द सप्त-भूमिक प्रासाद के अर्थ में भी आया है और टीकाकार ने यहाँ यही अर्थ किया भी है; किन्तु इसे व्योममान परक भी लगाया जा सकता है।

कर्नल चर्चवुर्ड ने सुमात्रा, जावा. बोर्न्यो आदि देशों की प्राचीन

१—(Lieut. Col James) Churchwood of Mount Vernon, on "Aerial Warfare and Civil Aerial Navigation in Ancient India" [Vide The Statesman, of 26th November, 1934, P. 15]

भाषा में लिखी गयी पुस्तकों की खोज के आधार पर एक इतिहास लिखा है। उससे पता चलता है कि ईसा से बहुत वर्ष पहले सुग्रीव ने विमानों के द्वारा सुमात्रा आदि द्वीपों पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था। वे विमान ऋग्वेद की निर्दिष्ट पद्धति से बनाये गये थे।

उन्होंने यह भी लिखा है कि चेर, चोल, पाण्ड्य देशों के राजाओं ने वायुयानों का एक अच्छा प्रबन्ध किया था जिनसे कि कलिङ्ग देश के लोग कुछ ही घण्टों में सिंहलद्वीप जाते थे।

आज के विश्वविश्रुत विद्वान गोवर्धनपीठाधीश्वर श्रीभारती कृष्णतीर्थजी महाराज ने अपनी श्रीसनातनवैदिकधर्म महामहिमभूममीमांसा नामक संस्कृत-पुस्तक में इन बातों को बड़े सुन्दर ढंग से पद्यबद्ध किया है—

किञ्च ज्ञेयं विश्वविद्यालयेषु
रत्नाकारे मौन्टवेर्णन्निजाख्ये।
कर्नल्चर्चवुड्नामपूर्वेतिहास-
निष्णातो यो विद्वदुत्तंस आस्ते ॥ २६६ ॥
तेन स्वीयाधीतिमध्ये सुमात्रा-
जावा-बोर्न्यो-मेक्सिकोमुख्यदेशे।
तत्रत्यानां प्राच्यभाषानिकाया-
वाप्तग्रन्थव्रातलब्धेतिहासात् ॥ २६७ ॥
न्यरूपीदं क्रिस्तोर्जनिसमयतोऽसंख्यशरदां
सहस्रालीतः प्राङ् निखिलविषयान् रक्तजलधेः।
सुमात्राजावादीनृगभिहितरीत्यां स्वविहितै-
विमानव्रातैर्द्राग्गगनगमनैर्न्यक्कृतमरुत् ॥ २६८ ॥
पुरा सुग्रीवोऽगादूव्यजयत च सर्वान् रिपुगणां-
स्ततः कुन्तीमाद्रीचरमतनुजाताववजयताम्।

पुनश्चेरैर्नौकावरततिभिराकाशगतिभिः
पराजीयन्तारं यवन-शकमुख्यारिनिचयाः ॥ २६९ ॥
किं च चेर-चोलपाण्ड्यपल्लवप्रमुख्यभू–
भृद्वरेण्यपुङ्गवैः प्रबन्ध ईदृगारचि ।
यत्कलिङ्गदेशतोऽनुघस्रमेव सिंहल–
द्वीपमाम्बरै······र्विमानकैरगुर्जनाः ॥ २७० ॥

भोजदेव के समराङ्गण सूत्रधार में अनेक प्रकार के वायुयानों का जिक्र है और उनके बनाने की प्रक्रिया का भी संकेत किया गया है। एक छोटा विमान, जो बड़े पक्षी के आकार का होता था, लकड़ी से बनाया जाता था। उसके भीतर पारद का एक यन्त्र स्थापित किया जाता था, जो ज्वलनाधार की अग्नि से उत्तेजित हो उस विमान को ऊपर उठाता था। वह विमान पक्षी की तरह अपने दोनों पंखों के सहारे आकाश में तैरता फिरता था—

लघुदारुमयं महाविहङ्गं दृढसुश्लिष्टतनुं विधाय तस्य ।
उदरे रसयन्त्रमादधीत ज्वलनाधारमधोऽस्य चाग्निपूर्णम् ॥
तत्रारूढः पुरुषस्तस्य पक्षद्वन्द्वोच्चालनप्रोज्झितेनानिलेन ।
सुप्तस्यान्तः पारदस्यास्य शक्त्या चित्रं कुर्वन्नम्बरे याति दूरम् ॥
(३१, ९५–९६)

पारद से ही बड़े-बड़े विमान भी उड़ाये जाते थे—

इत्थमेव सुरमन्दिरतुल्यं सञ्चलत्यलघु दारुविमानम् ।
आदधीत विधिना चतुरोऽन्तस्तस्य पारदभृतान् दृढकुम्भान् ॥
(३१, ९६)

भोजराजने विमान-निर्माण की जो प्रक्रिया बतलायी है वह उन्हें परम्परा से ही प्राप्त हुई होगी, क्योंकि पुराण में भी उस प्रक्रिया का उल्लेख मिलता है। शाल्व के सौभविमान की रचना भी कुछ इसी रीति से हुई थी—

अथ सूतविमानन्तु त्रिकक्षं पारदाभ्रकैः।
आस्थानयन्त्रभागाभ्यां द्विविभक्तं मनोजवम् ॥
यन्त्रभागे निम्नकोष्ठे सुदीप्तेनाग्निनार्चितम् ।
तदूर्ध्वं पारदेनाढ्यं तदूर्ध्वञ्चाभ्रकान्वितम् ॥
तिर्यगूर्ध्वाधरान् देशान् नमितुं तद्यथेच्छया ।
आयसीभिर्भूयसीभिर्नालिकाभिः समाचितम् ॥
गन्धकैरपि तद् युक्तं निर्मितं निपुणैः पुरा ।
गौरीशङ्कराचार्याभ्यां विमानं कृतमद्भुतम् ॥

वह सौभ विमान दो भागों में विभक्त था। एक भाग में यन्त्र होते थे और दूसरे में बैठने की व्यवस्था होती थी। यन्त्रवाले भाग में तीन कक्षाएँ होती थीं। सब से नीचे की कक्षा में आग जलती रहती थी और उसके ऊपर की कक्षाओं में क्रमशः पारद और अभ्रक होते थे। उसमें लोहे की बड़ी-बड़ी नलियाँ लगी रहती थीं, जिनसे वह इधर-उधर घुमाया भी जा सकता था।

ऋग्वेद के एक मन्त्र में बतलाया गया है कि जो मनुष्य पक्षियों के उड़ने की व्यवस्था को जानता है, वह आकाश की नाव विमान को भी जानता है—

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पततां वेद नावः समुद्रियः।

भोजदेव के समसामयिक साहित्य पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि उन दिनों उड़नेवाले विमानों को व्यावहारिक उपादेयता भी मिली थी। बौद्धसाहित्य में बोधिराजकुमार के जीवन की एक घटना है। उसकी ऐसी इच्छा थी कि उसका महल संसार भर में सर्वश्रेष्ठ ठहराया जाय। उसने एक विज्ञ कारीगर से वैसे महल की रचना प्रारम्भ करायी। कारीगर ने उसके निर्माण में अपनी सारी शक्तियाँ लगा दीं। जब वह बनकर तैयार हुआ, तब एक स्वर से दुनिया ने स्वीकार कर लिया कि सचमुच इस महल की समता में आज का कोई दूसरा महल नहीं। बोधिराजकुमार

की खुशी का कोई ठिकाना न था; उसकी मनोरथबेल बिल्कुल पुष्पित हो उठी थी; पर ज्योंही उसके मन में यह विचार उठा कि यह कारीगर दूसरे के लिये भी इस तरह का या इससे अच्छा महल बना सकता है, उसपर तुषारपात हो गया। और कोई रास्ता न देख उसने यह निश्चय किया कि इस कारीगर का हाथ ही काट लिया जाय। कानोंकान कारीगर को भी इस बात का पता लग गया। अबतक वह उसी महल में था; अतः अपने बचाव के लिये उसने एक गरुड़यन्त्र बनाया और अपनी स्त्री को संवाद भेज दिया कि वह बच्चों के साथ महल देखने की इज़ाजत माँग ले। जब उसकी स्त्री वहाँ आयी, वह कारीगर उस गरुड़यन्त्र पर सपरिवार सवार हो उड़ गया। और नेपाल के काठमांडू में रहने लगा—

पुत्रदारमस्स सकुनस्स कुच्छियं निसीदयित्वा वातपातेन निक्खमित्वा पलायि ॥

एक विद्वान् ने भरद्वाजमुनि कृत "अंशुबोधिनी" का कुछ इशारा किया है जिससे पता चलता है कि उसके 'विमानाधिकरण' नामक अध्याय में विमान की बहुत सी ज्ञातव्य बातों का उल्लेख है। उस अधिकरण के "**शक्त्युद्गमाद्यष्टौ**" इस सूत्र पर बोधायन मुनि की एक वृत्ति है—

शक्त्युद्गमो भूतवाहो धूमयानशिखोद्गमः।
अंशुवाहस्तारामुखो मणिवाहो मरुत्सखः॥
इत्यष्टकाधिकरणे वर्गान्युक्तानि शास्त्रतः।

इससे पता चलता है कि उन दिनों आठ प्रकार के विमान होते थे। उनके यह भेद उनके चालन की विशेषताओं से किये गये हैं।

(१) शक्त्युद्गम—कुछ विमान ऐसे होते थे, जो विद्युत् या दैवी शक्ति के सहारे चलाये जाते थे।

(२) भूतवद्ध—दूसरे प्रकार के विमान वह होते थे, जो अग्नि, जल या वायु से प्रगति पाते थे। अथवा भूत पद से देवयोनि विशेष का भी ग्रहण किया जा सकता है—"**भूतोऽमी देवयोनयः। (अमरको०)**।

अतः जिन्हें भूतगण ढोते-फिरते थे उन्हें 'भूतवाह' कहा जा सकता है। पुष्पक विमान इसी कोटि का विमान रहा। महर्षि वाल्मीकिजी ने लिखा है कि उस पुष्पक विमान को बड़े वेगवान व्योमचारी भूतगण ढोते थे— "वहन्ति यत्कुण्डलशोभितानना महाशना व्योमचरा निशाचराः। विवृत्तविध्वस्तविशाललोचना महाजवाः भूतगणाः सहस्रशः॥" (वा० रा० सु० कां० ८,७)

(३) धूमयान—कुछ ऐसे विमान होते थे जो धूम या वाष्प से उड़ाये जाते थे।

(४) शिखोद्गम—कुछ विमानों में पंचशिखी के तेल का प्रयोग होता था। आज उसकी जगह पिट्रोल का उपयोग होता है।

(५) अंशुवाह—कुछ विमानों में बहुत उन्नत प्रक्रिया व्यवहृत होती थी। बस, इनकी उड़ान के लिये सूर्य की किरणें ही काफी थीं।

(६) तारामुख—यह विमान चुम्बक शक्ति से उड़ाये जाते थे।

(७) मणिवाह—कुछ विमानों के उड़ाने में कुछ विशेष मणि काम में आते थे।

(८) कुछ विमान ऐसे होते थे, जिन्हें वायु से उड़ाया जाता था। उनमें कुछ विशेष यान्त्रिक विधि से वायु भर दी जाती होगी और वे उड़ पड़ते होंगे।

इस तरह इस उद्धरण से यह तय होता है कि उन दिनों का विमान-विज्ञान बहुत ऊपर उठ चुका था। आज की दुनिया को तो वायुयान के उड़ाने का बस एक ही तरीका मालूम है। उन दिनों की प्रक्रियाओं की अपेक्षा आज की प्रक्रिया बहुत ही पिछड़ी है। दोनों का सन्तुलन बिलकुल असम्भव है।

रथ : एक सार्वगतिक यान

आगे आपने लिखा है—"पहिले समय में आज की भाँति रेल-तार कहाँ था ?"

उन दिनों के रथ इतने वेगवान् होते थे कि जिनसे रेल की कोई तुलना नहीं हो सकती। नल अयोध्या के राजा ऋतुपर्ण को विदर्भ की ओर लिये जा रहे थे कि राजा का दुपट्टा रथ से गिर पड़ा। उसने झट रथ रोकने को कहा—"ततः स त्वरमाणस्तु पटे निपतिते तदा। ग्रहीष्यामीति तं राजा नलमाह महामनाः॥" (महाभा० वनप० ७२, ३)। तब नल ने बतलाया कि वह तो आठ मील पीछे छुट गया—"नलस्तं प्रत्युवाचाथ दूरे भ्रष्टः पथा तव। योजनं समतिक्रान्तो नाहर्तुं शक्यते पुनः॥" (महाभा० ७२, ४)

दुपट्टा गिरने और रथ ठहराने में मुश्किल से कुछ सेकेण्ड लगे होंगे। इतने थोड़े समय में आठ मील की दूरी तय करनेवाला आज तो जड़-वाद के पास कोई स्थल यान नहीं। इसीलिये ऋतुपर्ण को विदर्भ पहुँचने में थोड़ा ही काल लगा। और यह भी नहीं कि रथ अबाधित गति से चलता ही रहा। बीच में ही ऋतुपर्ण ने अपने गणित-ज्ञान का प्रदर्शन किया। एक बहेड़े के पेड़ की, उनने गणित से सभी पत्तियाँ गिन कर नल को बतलाया। पर नल को इस बात पर विश्वास न हुआ। उन्होंने रथ रोककर उस पेड़ की प्रत्येक पत्ती गिन डाली। उन्हें यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि ऋतुपर्ण की बतलायी संख्या में से एक का भी अन्तर न पड़ा। इसके बाद रथ बढ़ा।

लगे हाथ मैं पूछना चाहता हूँ कि आज के जड़वाद के पास गणित की यह जानकारी है क्या? विकासवाद भी मुँह खोले।

सच पूछिये तो उन दिनों का रथ एक ऐसी सवारी था कि जिस से जल, थल, नभ, ऊँची-नीची जमीन सब जगह जाया जा सकता था। रसकवि कालिदास ने रघु के रथ के लिये यही बात लिखी है—

वशिष्ठमन्त्रोक्षणजात् प्रभावादुदन्वदाशमहीधरेषु।
मरुत्सखस्येव वलाहकस्य गतिर्विजघ्ने नहि तद्रथस्य॥

शुनःशेप ने स्तुति की है कि हे अश्विद्वय, आप का अनश्वर रथ समुद्र और आकाश में भागनेवाला है—

वां रथा दस्रावमर्त्यः। समुद्रे अश्विनेयते—

(ऋग्० १, ३०, १८)

दूसरे मन्त्र में अश्विनीकुनारों से कहा गया है कि हे अश्विद्वय, आप जिस जगह रथ से जाने लगते हैं, वह जगह दूर नहीं रह जाती—"**नहि वामस्ति दूरे के यत्रा रथेन गच्छथः (ऋग्० १, २२, ४)।**

ऐसे रथ या तो मन्त्र-सिद्ध होते थे या यन्त्र-सिद्ध। ऋग्वेद से पता चलता है कि ऋभुओं ने एक ऐसे रथ का आविष्कार किया था, जो अश्वादि के खींचे बिना ही चलता था—

अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो रथस्त्रिचक्रः परिवर्तते रजः।

(ऋग्० ४, ३६, १)

इस रथ में आज के वायुयान की तरह ही तीन पहिये होते थे।

ऋग्वेद के एक दूसरे मन्त्र में भी इस तरह के रथ का वर्णन है। उस मन्त्र में "अनश्व" के अर्थ में "अनर्वाणं" शब्द का प्रयोग हुआ है। कण्वगोत्रोत्पन्न महर्षियों से प्रार्थना की गयी है कि वे उस प्रक्रिया को बतलाने की कृपा करें कि जिससे रथ में घोड़े की आवश्यकता नहीं रह जाती, केवल वायु के भर देने से ही रथ भाग पड़ता है—

क्रीळं वः शर्द्धो मारुतमनर्वाणं रथे शुभम्।

कण्वा अभिप्रगायत।

आज का यान या तो वाष्प से या विद्युत् से सञ्चालित होता है। पर इन दोनों प्रक्रियाओं की अपेक्षा वायु से सञ्चालन-प्रक्रिया में परिश्रम और धन दोनों की बचत होगी और यह प्रक्रिया उन दोनों की अपेक्षा सूक्ष्म एवं उन्नत भी है। आज के वैज्ञानिक भी इस प्रक्रिया की खोज में हैं; किन्तु पता नहीं, इसमें उन्हें सुविधाजनक सफलता मिल सकेगी या नहीं। जहाँ तक मुझे याद है इसी माघ महीने के 'आज' या 'संसार'

के किसी अङ्क में मैंने पढ़ा था कि कोई वैज्ञानिक पेट्रोल की जगह वायु भरकर मोटर चलाने में कृतकार्य हुआ था। किन्तु, बाद में इसकी कोई पुष्टि नहीं हुई।

हाँ, तो इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि कुछ रथ ऐसे भी होते थे, जो यन्त्र से चालित होते थे। यद्यपि इन मन्त्रों में यन्त्र शब्द का शब्दतः उल्लेख नहीं है, पर अर्थात् यह सिद्ध हो ही जाता है। यदि यन्त्र से यानों के सञ्चालन की बात शब्दतः देखनी ही हो तो महाभारत के आदिपर्व का वह श्लोक देखना चाहिये, जिसमें एक ऐसे जहाज़ का जिक्र है जो आँधी के प्रबल थपेड़ों की कुछ परवाह न कर मनोवेग से बढ़ता जाता था—

मनोमारुतगामिनीम्।
सर्ववातसहां नावं यन्त्रयुक्तां पताकिनीम्॥

पद्मपुराण के उत्तर खण्ड में दशरथजी के जीवन की एक घटना मिलती है। ज्योतिषियों ने राजा दशरथ से बतलाया कि शनि देवता रोहिणी का भेदन कर आगे बढ़नेवाले हैं, यह दुनिया के लिये बड़ा भयङ्कर योग होगा जिसका नाम शाकटभेद है। इस से १२ वर्ष तक घोर दुर्भिक्ष फैलेगा। राजा दशरथ ने दुनिया के इस अमङ्गल को मिटा देने को सोचा। वे दिव्य बाण-धनुष लेकर रथ पर चढ़कर सुदूर रोहिणीपृष्ठ पर जा पहुँचे, जो सूर्य से सवा लाख योजन ऊपर है। इन के पराक्रम से शनि देवता बहुत प्रसन्न हुए और इस के बाद कभी भी रोहिणी के न भेदन करने का वादा किया।

दशरथ का यह रथ किसी भी विमान से क्या कम था? आज के वायुयान से तो उस की तुलना ही व्यर्थ है। इस तरह पता चलता है कि उन दिनों के एक रथ का ही आज के वायुयान, जलयान, टंक आदि सब मिल करके भी समता नहीं कर सकते; तब उन दिनों की विशेष सवारियों की बराबरी भला आज के रेल आदि कैसे कर सकते हैं?

यह तो रेल, तार, वायुयान और बिजली की बात हुई। प्राचीन भारत में इसके अतिरिक्त एक्स-रे आदि समग्र वस्तुएँ थीं इस का सप्रमाण उल्लेख किया जा सकता है, पर विस्तार के भय से उसे छोड़ देना ही उचित जँचा। उन दिनों तो बहुत सी ऐसी भी वस्तुएँ थीं जिन की कल्पना भी आज किसी को नहीं है ! पर इन अधिभूत पदार्थों के निर्माण और उपयोग का आधार आज से बिलकुल विपरीत था, ऐसा था कि जीव के अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने में वे वस्तुएँ बाधक नहीं होती थीं। उनका वह आधार और वह प्रक्रिया क्या थी ; यह स्वतन्त्र निबन्ध का विषय है। जब आज के तिब्बत में उपलब्ध आश्चर्यजनक रासायनिक प्रक्रियाओं[1] की भी जानकारी यूरोपीय विज्ञान को नहीं है, तब गौरवशाली अतीत भारत की पदार्थविद्या की परिधि को यह कैसे छू सकता है ?

"पापोहं पापकर्माहं" की वाणी कल्याणी ही है

अब मैं आपके एक और विचार पर दृष्टि डाल इस आलोचना को समाप्त करूँगा। आपकी राय में "पापोहं" वाली बात मनुष्य को कायर बना देने वाली है, ब्राह्मणवर्ग ने इस आवाज को उठा कर कड़ी भूल की है ; यह बात न तो श्रुतिसम्मत है और न तो वैज्ञानिक ही। आपके शब्दों में—"यह बात कहाँ से निकली ? जीवात्मा शुद्ध, चिद्घन, ब्रह्म से अभिन्न है।···यदि इतना ऊँचा उपदेश उसकी बुद्धि में न बैठे तब भी इतना तो समझ ही सकता है कि जीव ईश्वर का अंश है ;···ऐसी दशा में जब तक परमात्मा को पापात्मा न माना जाय तब तक उसका अंश जीव कैसै पापात्मा हो सकता है और पाप से जन्म होना कैसे कहा जा सकता है ?···(इसी तरह) शास्त्रानुकूल विवाह पापकर्म नहीं हो सकता और उसके फलस्वरूप जन्म लेने वाला पापसम्भव नहीं कहा जा सकता।"

१—श्री अवर्नें के My Experiences in Tibet में इन वस्तुओं का उल्लेख हैं।

आपकी इन उपर्युक्त पंक्तियों से पता चलता है कि जीवसुलभ केवल दो ही दृष्टियों को परखा गया है--एक परमात्म दृष्टि, दूसरी जीव दृष्टि। परन्तु इसके अतिरिक्त एक और तीसरी भी दृष्टि है—देहदृष्टि। इस दृष्टि को सामने न रखने से ही "पापोहं" वाला प्रश्न उठा है। यह तीनों दृष्टियाँ अपनी-अपनी जगह ठीक हैं, यद्यपि परस्पर विरोधिनी जैसी हैं। इन तीनों दृष्टियों का उल्लेख शास्त्रों में मिलता है—"**देहदृष्ट्या तु दासोहं जीवदृष्ट्या त्वदंशकः। वस्तुतस्तु त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः॥**"

जब जीव परमात्मदृष्टि रखता है तब वह सचमुच शुद्ध, चिद्घन, ब्रह्म से अभिन्न रहता है। इस अद्वैतदृष्टि के समय जीव के लिये शोक, मोह आदि का अस्तित्व ही नहीं रहता—"**तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।**" (ई० उ०)। जिनकी यह अद्वैत दृष्टि परिनिष्ठित हो जाती है। वे सचमुच परमात्मा बन जाते हैं, गा उठते हैं—"**अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि अहमादित्यैरुत विश्वेदेवैः।** (ऋग्०) "**अहं देवानां जनिमानि विश्वा।**" (ऐत० उ० ४,५)

जब जीव को जीवदृष्टि होती है उसे द्वैत का भान होता है और वह अपने को शोक, मोह से आक्रान्त पाता है। इस दृष्टि को लक्ष्य कर श्रुति कहती है—"**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।**" ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि 'हे देव! तेरा जो सनातन साथी है, वह तेरे लिये बहुत प्रिय होता हुआ भी तेरे प्रति पाप किया करता है। परन्तु हे यजनीय देव! पापी होते हुए भी वह तेरा ही है, तेरी दया से वह पापों से मुक्त हो पवित्र भोगों को प्राप्त करे--

य आपिर्नित्यो वरुण प्रियः सन् त्वामागांसि कृणवत्सखा ते।
मा त एनस्वन्तो यक्षिन् भुजेम यन्धि ष्मा विप्रः स्तुवते वरूथम्॥

(ऋग्० ७,८८,६)

जब जीव इन दो स्तरों से नीचे उतर आता है, तब इसे देह-दृष्टि होती है। तब यह अपने को परमात्मा नहीं, जीवात्मा भी नहीं, एक मनुष्य मात्र समझता है और तब यह अपने को चारो ओर से पापों से घिरा पाता है। इस दृष्टि को लक्ष्य कर वेद कहते हैं—"अनृतसंहिता मनुष्याः।" इसी दृष्टि के होने पर मनुष्य अपने को 'पापात्मा' और 'पाप सम्भव' देखने लगता है—"व्यतिषक्त इव पाप्मना मनुष्यः।" और तब इन पापों से घबड़ा कर इनसे छूटने के लिये देवता से प्रार्थना करता है—त्राहि मां पुण्डरीकाक्ष सर्वपापहरो भव।" यह तो लौकिक शब्दों में हुई, वैदिक शब्दों में यह प्रार्थना इस तरह है—"उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः। उतागश्चकुषं देवा देवा जीवयथा पुनः॥ (मैंने पाप किया है, किन्तु देवताओ मुझे उठाओ; मुझमें जिन्दगी भर दो।) इस माँग में पाप से छूटने की घबड़ाहट स्पष्ट प्रतिफलित हुई है।

बात यह है कि तीन दृष्टियों में से पहली दो दृष्टियों को प्राप्त करना आसान बात नहीं है। प्रायः सभी लोग तीसरी दृष्टि से देखते हैं और इसीलिये वेद ने बतलाया कि मनुष्य निरन्तर पापों से लिप्त रहता है, इसे इनसे छुटकारा पाने के लिये देवताओं की ओर उन्मुख होना चाहिये। पर प्रश्न तो यह है कि निसर्गपूत देवता इस पाप-लिप्त मनुष्य की पूजा ही क्यों स्वीकार करेंगे—नवा अनार्षेयस्य देवा हविरश्नन्ति (कौषीतकी ब्रा० ३,२६), "न ह वा अव्रतस्य देवा अश्नन्ति" (ऐतरेय ७,११)। इसलिये देवता बनकर ही देवताओं के पूजन का विधान है—"देवो भूत्वा देवान् यजेत्", और बिना देवता बने देवताओं की पूजा का निषेध—"नाविष्णुः कीर्तयेद्विष्णुं नाविष्णुर्विष्णुमर्चयेत्। नाविष्णुः संस्मरेद्विष्णुं नाविष्णुर्विष्णुमाप्नुयात् (महाभा०)। अथयोन्यां देवतामुपास्ते अन्योऽसावन्योहमस्मीति न स वेद यथा पशुः" (बृहदा० उ० १,४,१०)

अतः जब मनुष्य को पूजा करनी होती है वह व्रत लेता है, न्यास के द्वारा अपने में देवत्व भरता है; तब मनुष्य 'पापात्मा' एवं 'अनृत' न रह कर 'पुण्यात्मा' एवं 'सत्य' हो जाता है—देवता बन जाता है। यजुर्वेद से इस बात का स्पष्टीकरण हो जाता है। जब किसी को दर्श-पौर्णमास करना होता है, वह व्रत ग्रहण करता है, अग्नि से प्रार्थना करता है कि 'हे व्रतपते मैं व्रत करने जा रहा हूँ, इसे कर सकूँ ऐसा बल देना।' तब उसे भान होता है कि उसमें देवत्व शक्ति जाग उठी और वह बोल उठता है 'अब मैं असत्य से सत्य बन गया हूँ—"**अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि** ॥ (यजु० १,५)। हाँ, इस अवसर पर 'पापोहं पापकर्माहं' का गीत गाना सचमुच गलत है, किन्तु, इसका यह भी मतलब नहीं कि यह गीत सर्वांश में सभी अवसरों पर त्याज्य ही है। जिस तरह पूजन के पूर्वाङ्ग में या मध्याङ्ग में मनुष्य को अपने को देवता समझना चाहिये, उसी तरह उसकी समाप्ति में उसे अपने को मनुष्य ही समझना चाहिये; उस अवसर पर अपनी नैसर्गिक निर्बलता को व्यक्त कर उसे दूर करने के लिये देवता से माँग करनी ही चाहिये। इस अवसर पर अपने को देवता समझना ही बेसुरा आलाप है, मिथ्याभिमान है; और यदि हम ऐसा करते हैं तो इसका नतीजा होगा कि हमारे सब पुण्य क्षरित हो जायेंगे— "**अहङ्काराङ्कुरस्याग्रे तदा पुण्यं न तिष्ठति**।" विद्युद्धारा से कनेक्शन के अवसर पर बल्ब को प्रकाशित कहना चाहिये, पर जब उससे उसका कनेक्शन न रह गया हो, उस अवसर भी उसे प्रकाशित कहना अवश्य झूठी बात है। अतः जिस तरह व्रतादि में "पापोहं" की बात असंगत है उसी तरह व्रतान्त में देवत्व की बात असंगत। अपनी-अपनी जगह दोनों बातों की अव्यर्थ आवश्यकता है। इसीलिए दर्श-पौर्णमास की समाप्ति पर एक मन्त्र में अनुष्ठाता कहता है कि हे व्रतपते मैं आपके बल पर इस व्रत को कर सका, इतने दिनों तक तो मैं आपके संस्पर्श से

देवता बना रहा, पर अब मैं जो पहले था वही मनुष्य का मनुष्य रह गया हूँ—"**अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं तदशकं तन्मे राधि। इदमहं य एवास्मि सोऽस्मि॥** (यजुः २,२८)

हाँ, तो इस अवसर पर "पापोहं पापकर्माहं" या "उतागश्चकृवं देवाः" कहना ठीक ही है। इसके बिना तो हम अपनी कायरता भगा ही नहीं सकते, अपने में तत्परता भर ही नहीं सकते।

स्मृति-प्रामाण्य का सिंहावलोकन

'वैदिकी' के अब तक के पृष्ठों में यह दिखलाने की चेष्टा की गयी है कि स्मृति के जिन अंशों पर अवैदिकता का संशय उठाया गया है, वह सब के सब श्रुति सम्मत हैं और इसीलिये प्रमाण हैं। यहाँ स्मृति से मेरा मतलब, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, वेदानुकूल मन्वादि स्मृति, इतिहास, पुराण, धर्मसूत्रादि सभी आर्ष ग्रन्थों से है। स्मृति परतः प्रमाण है, श्रुति की तरह उसे स्वतः प्रामाणिकता प्राप्त नहीं; अतः उसे श्रुति की श्रेणी में नहीं बैठाया जा सकता। हममें श्रुति की तो इतनी अधिक मान्यता है कि यदि इसके विरुद्ध ईश्वर भी आकर बोलें तो वह हमें स्वीकार नहीं, फिर यदि उससे स्मृति विरुद्ध पड़ने लगे तब हमें वह कैसे मान्य होगी?—'**विरोधे त्वनपेक्षं स्यात्**'...(जै० सू० १,३,३) फिर भी हममें स्मृति की जो इतनी अधिक मान्यता है, वह इसलिये कि वह सर्वथा श्रुति मूलक है—**श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्**। बहुत प्राचीनकाल से ही प्रत्येक तत्त्वदर्शी ने स्मृति प्रामाण्य की यह व्यवस्था दे डाली है। मनु ने बतलाया है कि श्रुति की तरह स्मृति के विरुद्ध भी कोई तर्क न खड़ा करना चाहिये।—

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ॥

(मनु० २, १०)

जैमिनी मुनि ने तो यहाँ तक बतला दिया है कि यदि स्मृति की कोई बात श्रुति में न मिल सके तो उसे अप्रमाणिक न समझना चाहिये, अपितु यह अनुमान करना चाहिये कि इस स्मृति का मूल कोई न कोई श्रुति अवश्य है जो अत्र अप्राप्य है—

'…असति ह्यनुमानम्' (जै० सू० १, ३, ३,)

स्मृति पर यह कितनी दृढ़ आस्था है, कितना प्रगाढ़ विश्वास है !

ब्रह्मसूत्र के स्मृत्यधिकरण में भगवान् शङ्कराचार्य ने जैमिनी के इसी सूत्र का आश्रयण कर वेदानुकूल मन्वादि स्मृतियाँ, इतिहास, पुराण, धर्मसूत्रादि सभी आप्त ग्रन्थों की प्रामाणिकता स्पष्ट स्वीकार कर ली है—

एवमप्यन्या ईश्वरकारणमानिन्यः स्मृतयोऽनवकाशाः प्रसज्येरन् । ता उदाहरिष्यामः—'यत्तत्सूक्ष्ममविज्ञेयम्' इति परं ब्रह्म प्रकृत्य 'सह्यन्तरात्मा भूतानां क्षेत्रज्ञश्चेति कथ्यते' इति चोक्त्वा 'तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम' इत्याह । तथान्यत्रापि 'अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निर्गुणे सम्प्रतीयते' इत्याह[१] ।

अतश्च संक्षेपमिमं शृणुध्वं नारायणः सर्वमिदं पुराणः ।
स सर्गकाले च करोति सर्वं संहारकाले च तदत्ति भूयः ॥

इति पुराणे । भगवद्गीतासु च—

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।

परमात्मानमेव च प्रकृत्याऽऽपस्तम्बः पठति–तस्मात् कायाः प्रभवन्ति सर्वे स मूलं शाश्वतिकः स नित्यः । (ध० सू० १, ८, २३, २,) इत्येवमनेकशः स्मृतिष्वपीश्वरः कारणत्वेनोपादानत्वेन च प्रकाश्यते ।"

(ब्र० सू० भा० अ० २ पा० १, अधि० १ सू० १)

१—यह इतिहास के वाक्य हैं, जिन्हें प्रमाण रूप में उपस्थित किया गया है । रत्नप्रभाकार ने लिखा है—**इतिहासवाक्यानि उक्त्वा पुराणसम्मतिमाह—'अतश्चेति ।**

इन तत्त्वदर्शियों ने जो स्मृति-प्रामाण्य की घोषणा की है, उसके मूल में बस वेद की ही स्पष्ट प्रेरणा है। वेदों में इतिहास-पुराणादि का उल्लेख है। अथर्ववेद का एक उदाहरण दिया जाता है। पन्द्रहवें काण्ड में एक सन्त व्रात्य के महत्व के वर्णन के अवसर पर बतलाया गया है कि जब वह बृहती दिशा की ओर बढ़ा, तब इतिहास, पुराण और नाराशंसी गाथाएँ उसके पीछे हो लीं। जो इस बात को जानता है वह इतिहास, पुराण और नाराशंसी गाथाओं का प्रिय धाम होता है—

स बृहतीं दिशमनुव्यचलत्। तमितिहासश्च पुराणञ्च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्। इतिहासस्य च वै पुराणस्य च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति च एवं वेद। (अथर्व० १५, ७)।

किन्तु आज यह आवाज उठायी जाने लगी है कि वेद में आये इतिहास और पुराण शब्द ब्राह्मणपरक हैं, व्यासादिस्मर्तृक ब्राह्मादि-पुराणपरक नहीं। अपने इस मत की पुष्टि में वे लोग शङ्कराचार्य के उस भाष्य को उपस्थित करते हैं, जो बृहदारण्यक उपनिषद् के **"स यथा-र्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्..."** (बृहदा० ४, १०) इस मन्त्र पर उपलब्ध है।

यह ठीक है कि इस मन्त्र में आये इतिहास, पुराणादि शब्दों को सचमुच ब्राह्मणपरक ही माना गया है—**'इतिहास इति—उर्वशी-पुरुरवसोः संवादादिः 'उर्वशी हाप्सराः' इत्यादि ब्राह्मणमेव। ...एवमष्टविधं ब्राह्मणम्। एवं मन्त्रब्राह्मणयोरेव ग्रहणम्।'** किन्तु इससे यह आशय निकालना कि वेद के सभी मन्त्रों में आये इतिहास पुराणादि शब्द ब्राह्मणपरक ही हैं, कभी ठीक नहीं। शंकराचार्य को इस मन्त्र में इतिहास-पुराण का जो ब्राह्मणपरक अर्थ करना पड़ा है, उसका एक विशेष कारण है; वह यह कि यहाँ पर इतिहासादि को ब्रह्म का निःश्वास कहा गया है जो ब्राह्मण के लिये ही सम्भव है। क्योंकि सांस की तरह केवल वेद ही स्वाभाविक होता है, अर्थकृत या शब्दकृत

कोई भी बनावट इसमें नहीं होती। स्मृति में अर्थतः चाहे कोई बनावट न हो, पर शब्दतः तो होती है; अतः सर्वांश में उसे भगवान् का निश्वास नहीं कहा जा सकता।

हाँ, तो यही कारण है कि भगवान् शङ्कराचार्य ने यहाँ के इतिहासादि पद को ब्राह्मणपरक मान लिया है। किन्तु इससे अन्य श्रुति में जहाँ कि पुराणादि को ब्रह्म का निश्वास न कहा गया है, शङ्कराचार्य को इतिहासादि पद से कभी ब्राह्मण अभिप्रेत नहीं। छान्दोग्य उपनिषद् के उस मन्त्र में जिसमें कि इतिहासपुराण को पाँचवाँ वेद कहा गया है, इतिहास पद से शङ्कराचार्य ने महाभारत का ही ग्रहण किया है— **'वेदानां भारतपञ्चमानां'** (छा० उ० ७, १, २)। इसी तरह इसी मन्त्र में आये पित्र्य, राशि, दैव, निधि, वाकोवाक्य, एकायन, दैवविद्या, ब्रह्मविद्या आदि पदों का लौकिक ग्रन्थपरक ही व्याख्यान किया है, न कि ब्राह्मणपरक। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि शङ्कराचार्य को वेद में उपलब्ध इतिहासादिपद से केवल ब्राह्मण ही अभिप्रेत है।

शङ्कराचार्य की तरह भगवान् वेदव्यास को भी छान्दोग्य के इतिहास-पुराण से स्मृत ही इतिहास-पुराण अभिप्रेत है। क्योंकि व्यासदेव ने पहले तो भागवत के—

ऋग्यजुः सामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः।
इतिहासपुराणञ्च पञ्चमो वेद उच्यते॥ (श्रीमद्भा० १, ४, २०)

—इन शब्दों में **'ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदः इति''** छान्दोग्य के इस मन्त्र का अनुवाद भर किया और बाद में 'किस वेद का कौन निष्णात हुआ' इस बात के बतलाने के अवसर पर यह लिखा कि पाँचवें वेद इतिहासपुराण के निष्णात रोमहर्षण हुए— **"इतिहासपुराणानां पिता मे रोमहर्षणः (श्रीमद्भा० १, ४, २२,)**; और यह सर्वविदित बात है कि रोमहर्षण व्यासस्मर्तृक ही इतिहासपुराण के निष्णात हुए थे।

इस सम्बन्ध में यदि स्वयं वेद की सम्मति देखी जाय, तो तय यही होता है कि इतिहास-पुराण से उसका अभिप्राय स्मृत ही इतिहास-पुराण से है न कि ब्राह्मण भाग से; क्योंकि कई जगह उसने ब्राह्मण से पृथक् इतिहास-पुराण का उल्लेख किया है। गोपथ की निम्नलिखित पङ्क्तियों पर ध्यान देना चाहिये—

एवमिमे सर्वे वेदा निर्मितास्सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वयाख्याताः सपुराणाः सस्वराः ससंस्काराः सनिरुक्ताः सानुशासनाः सानुमार्जनाः सवाकोवाक्यास्तेषां यज्ञमभिपद्यमानानां छिद्यते नामधेयं यज्ञमित्येः वाचक्षते।

उपनिषद् का ब्राह्मण से पृथक् उल्लेख इस लिये किया गया है कि सभी उपनिषदें ब्राह्मण की देन नहीं।

इस तरह यह सिद्ध होता है कि पुराणादि स्मृतियों की प्रामाणिकता न केवल आप्तसम्मत है, अपि तु श्रुतिसम्मत भी है।

वेद वृक्ष है और पुराण उसका फल—'निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्।' बीज या वृक्ष में वह सारस्य, सौगन्ध्य, माधुर्य नहीं होता जो कि उसके फल में होता है; यद्यपि यह उसी की देन है। एक व्यक्ति आम की डाल-पत्तियों के रस का जानकार है और दूसरा व्यक्ति उसके साथ-साथ उसके फल का भी रसज्ञ है, तो यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि दूसरे व्यक्ति को आम्रविषयक ज्ञान पूर्ण एवं सफल है। इसी तरह पुराण के शब्दों में यदि यह कहा जाय कि साङ्गोपाङ्ग वेद के जानकार से ज्यादा विद्वान वह है जो इसके साथ-साथ पुराणों का भी जानकार है, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी—**यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः॥**
पुराणं च विजानाति यः स तस्माद्विचक्षणः॥ (पद्म पु० सृ० २, ५०—५१)

आदर्श जीवन चरित्र, काव्य, धर्म, नीति, व्यावहारिकविज्ञान, कला-

कौशल, सांस्कृतिक चित्रण, परा भक्ति, एवं भगवान् के रहस्यमय सगुण विग्रह आदि बातें श्रुति में केवल बीज रूप से ही उपलब्ध हैं। यदि पुराण न हों, तो हम इन बातों को कहाँ से पा सकते थे ? हम अपने ऋषि, राम, कृष्ण आदि उन ऐतिहासिक विभूतियों को कैसे जान सकते थे, जिनसे अतीत में अपनी सभ्यता ने पूर्णता को प्राप्त किया था और जिनकी पूत स्मृति से आज भी हम अपने में वह आलोक पाते हैं जिससे हम स्वयं पुनरुज्जीवित हो फिर से विश्व के मूर्च्छित चैतन्य को अनुप्राणित कर सकते हैं, जो अन्यथा असम्भव है ? अतः स्मृति पर हमारी आस्था होनी ही चाहिये।

अन्त में भगवान से यह प्रार्थना करते हुए कि वे सन्मार्ग से हमें विचलित न होने दें इस लेख को समाप्त करता हूं—

मा प्र गाम पथो वयम् (ऐ० ब्रा० ३, ११,)

श्री कृष्णार्पणमस्तु

'युग-वीणा'

(रचयिता—लालविहारी मिश्र)

यह एक गीति-काव्य है। इसने संस्कृत-साहित्य में कुछ नये पृष्ठ जोड़ दिये हैं। इसकी कविताओं में हाहाकार और हुङ्कार, क्रान्ति और शान्ति, प्रतीकार और सहिष्णुता, ध्वंस और निर्माण, प्रतिस्पर्धा और प्रेम साथ-साथ प्रतिफलित हुए हैं। किन्तु इसकी क्रान्ति शान्ति के लिए, प्रतिस्पर्धा प्रेम के लिए एवं ध्वस निर्माण के लिए है। और इसका यह प्रतिस्पर्धादिक किसी व्यक्ति, जाति एवं देश विशेष से नहीं, वरन् उनके अन्तराल में पैठी प्रवृद्ध दानवता से है।

आज प्रत्येक व्यक्ति, जाति, राष्ट्र एवं देश की आँखों में पानी है, विश्व वेदनार्दित है, युग की वाणी व्यथाश्लथ है। शोषित की आहों से तो प्रत्यक्ष ही दुनिया हिल रही है, किन्तु शोषक की उन भावी भयावही आहों से, जो उसकी हँसी के भीतर से झाँक रही हैं, उसका क्षितिज और भी धूमिल हो उठा है। 'युगवीणा' के तारों में इनमें से प्रत्येक के अश्रु-गीतों का प्रतिफलन हुआ है। इसके साथ ही इनकी स्वर लहरियों पर चढ़कर नव-निर्माण की आकुल प्रेरणाएँ भी उतराती फिरती हैं।

आए दिन दानवता जड़वाद का चकमा दे मानव की ठठरियों में आविष्ट हो गयी है। उसने बड़ी सफलता से मानवता का खून किया है। आज मानवता सख्त घायल है और इसकी क्षीण सांस क्षण-क्षण रुकती ही जा रही है। पर वञ्चित मानव ने इसे सुना-समझा तक नहीं। किन्तु 'युगवीणा' की 'तात्त्विकी' ने दश वर्ष पहले ही मानवता के उस हाहाकार को प्रतिध्वनित किया था और आज के विज्ञान की ध्वंसकता का पूरा-पूरा संकेत भी किया था। इसके गायक ने अपनी भावना की आँखों से उन अमृतपुत्रों को परख लिया था जो मानव को सावधान

करने धरातल पर उतर आये थे। उसने देख लिया था कि कारखानों की बड़ी-बड़ी चिमनियाँ अपनी अजस्र धूम्रधाराओं से नास्तिकता का सघन बादल गढ़ रही हैं। उससे जड़वाद की वह दूती भी छिपी न रही जो वायुयानों पर चढ़कर यह सन्देश बिखेरती फिरती है कि मानवों के चिर-प्रशासक ईश्वर को मैंने स्वयं शासित कर रखा है। उसने देखा था कि रेडियो के आपात मधुर गीतों के अन्तराल में किस तरह विश्वनाश का अग्रगीत छिपा हुआ है और किस तरह अस्त्रों के वितथदर्पित नये-नये आविष्कार अपनी बाहरी चकाचौंध से दुनिया का चकमा दे उसके भीतर खून की उग्र पिपासुता जगाते जा रहे हैं। उस गायक से पाश्चात्य सभ्यता की सूक्ष्म मायाविता भी छिपी न रह सकी। उसने देख लिया था कि किस तरह उस जादूगरनी ने अपनी रक्ताभा से उषा का बाना बना दुनिया को यह धोखा देती हुई कि मैं ही उषा हूं, मुझसे ही सुख-सूर्य का उदय होगा, किस तरह अमावस्या का आह्वान कर लिया है। कवि ने स्पष्ट यह भी देख लिया था कि अब तो पश्चिम क्षितिज पर विश्व ध्वंसक धूमकेतु भी उग आया है। और तब उसने उन दिनों सतर्कता का लम्बा गीत भी गाया—

सावधानं कर्तुमधुनाऽवातरन् रेऽमरकुमाराः।

अङ्किताऽऽस्ते भूमिभागे भूरिभौतिकभाव-भूतिः,
ईहते मातुं व्यवधिमजमद्य रे पीनानुभूतिः,
"मानवानां चिरप्रशास्ता स्वयमिदानीं शासितोऽस्ति"
इति प्रवृत्ति व्योमयानात् किरति रे जडवाददूती।
अबवनिदिवो वाष्पत–स्तडितान्गिवातौ दास्यमगमन्,
नास्तिकीं तनुते घनालीं यन्त्रगेहिकधूम्रधाराः,
सावधानं कर्तुमधुनाऽवातरन् रेऽमरकुमाराः।

मृत्युरेत्य विलासितायां अन्तराले स्वपीति,
स्फुरति विसृताऽऽकाशवाण्यां विश्वनाशस्याग्रगीतिः,
नवनवास्त्रा विस्फुतैस्तैर्वितथदयितैश्चाकचिक्यैः
अद्यपुनरुज्जीविताऽऽस्ते रक्तरागस्योग्ररीतिः।
वञ्चयित्वोषसमरुणिमाऽमां प्रतीचीजाऽऽद्रयतिरे
सभ्यताव्याजादुदयतेऽसभ्यताया 'धूमतारा'
सावधानं कर्तुमधुनाऽवातरन् रेऽमरकुमाराः।

× × ×

किन्तु दुनिया सम्भली नहीं। 'तात्विकी' की वाणी सच निकली। शीघ्र ही विश्वव्यापी घोर युद्ध हुआ। किसी कोने का कोई भी व्यक्ति ऐसा न बचा जो कुछ न कुछ इसकी आँच से न झुलसा हो। अब आवाज आने लगी है कि 'परमाणु-बम' से मानवता खतरे में है, पता नहीं कब इससे यह नामशेष हो जाय।

'तात्त्विकी' की इन बातों का कुछ व्याख्यान 'वैदिकी' के १३८ पृष्ठ से १५८ पृष्ठ पर देखा जा सकता है। 'युगवीणा' में इसी तरह के जीवन ज्योति और जागृति के गीत हैं। यह एक युगान्तरकारी रचना है।

अपनी अप्रकाशित अवस्था में ही यह संस्कृत की प्रमुख संस्था से पुरष्कृत एवं भारत के सर्वश्रेष्ठ कवि एवं विद्वानों से प्रशंसित हो चुकी है। इसकी अधिकांश रचनाएँ पत्रों में प्रकाशित हो चुकी हैं। परिस्थिति की पेचीदगी से इसका पुस्तक रूप में अबतक प्रकाशन न हो सका था। अब इसके प्रकाशन की व्यवस्था की जा रही है। कविताओं का हिन्दी में भावानुवाद भी दिया जायगा। "वैदिकी" के ग्राहकों के लिए विशेष सुविधा दी जायगी। वे केवल लागतमात्र में इसे पा सकेंगे। उन्हें अपनी ग्राहकता का नम्बर नोट कर लेना चाहिए।

मन्त्री

श्री उमापति पुस्तकालय,

पिण्डी, गोरखपुर।

'यक्षदूतम्'

(लालविहारी मिश्र)

यह विश्वसाहित्य के बेजोड़ काव्य 'मेघदूत' के मूलरहस्य को लेकर उसी के छन्दों में लिखा गया है। इसमें जीवात्मा की युगव्यापी चिर-विरह की आकुल वेदनाएँ एवं गाथाएँ मूर्त हो उठी हैं। इसकी मर्म-स्पर्शिता हृदय में गुदगुदी और चिर-वेदना का प्रकाश साथ-साथ भर देती है। कुछ स्फुट अंश नीचे दिया जाता है—

तस्मिन् काले प्रथम उषसो मेऽसुपून्मेष आसीत्
स्वान्तेऽजागो यदरुणघृणिर्घोर-नीहारभेदो ;
नाड्यश्चासन् द्रुतिमुपगता मूर्च्छनाया विताना-
दक्षिणच्छन्ना मद इव यदा आमर-ज्योतिरेका।

पुण्यज्योत्या मनसि खचिता मादिनी स्वर्णरेखा
आदायाऽऽस्थाद् धुतकररुहान् सस्मिता देवदूती ,
श्रृङ्गारो रे मदसुषु तदाऽभूच्चलापाङ्गपातात्
कम्पश्चैकोन्ववहद्दतटो दिव्यसन्देशवाचा ।

मूर्ता जाता चिरविलसिता भावनाली युगानां
आ तन्द्रायां लयमियमगाद् विप्रयोगस्य यामा ,
कस्याप्याभा मम पथि तता शून्यनीहाररन्ध्रा-
देवञ्चाहं सपदि रतोऽव्यासमायासहीनः ।